

संस्कृति

जून-जुलाई
1993

उत्तर प्रदेश

संस्कृति विभाग उ०प्र०
उपहार स्वरूप भेंट



सांस्कृतिक कार्य विभाग, उत्तर प्रदेश का प्रकाशन



भव्य मुकुट के संग एक मनोहारी मुद्रा

मुख पृष्ठ : मुखौटों का प्रभावपूर्ण प्रदर्शन

उत्तर प्रदेश के प्रमुख लोकनाट्य

लेखक :

डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित

पी.एच.डी., डी.लिट्.

आचार्य-अध्यक्ष, हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

नाटक और रंगमंच

काव्य के मुख्य दो भेद किए गए हैं -

१. श्रव्य
२. दृश्य

दृश्य काव्य उस काव्य रूप को कहते हैं जिसमें दर्शनीय (अभिनय) रूप से आनंद प्राप्त होता है। दृश्य काव्य को 'रूपक' कहा गया है क्योंकि इसमें पात्रों के रूपादि का आरोप होता है। इसके दो भेद हैं - रूपक और उपरूपक। ये दोनों पूर्ववर्ती लोकनाट्यकला के परिष्कृत रूप हैं। रूपक कुछ अधिक परिष्कृत होने के कारण शास्त्रीय हो गया है, जबकि उपरूपक लोकनाट्य के निकट ही रहा। रूपक में रस प्रधान होता है और उपरूपक में नृत्य। रूपक के १० भेद हैं, जिनमें पहला है नाटक। काव्याचार्यों ने इस 'नाटक' को पंचम वेद की संज्ञा दी है।

नाटक की परिभाषा देते हुए 'दशरूपककार' ने लिखा - "अवस्थानुकृतिनट्यम्"। इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य धनिक ने लिखा - "काव्य में नायक की जो धीरोदात्त अवस्थायें हैं, उनकी एकरूपता जब नट अभिनय के द्वारा प्राप्त कर लेता है, तब एकरूपता की वह प्राप्ति नाट्य कहलाती है।"

यह अभिनय चार प्रकार का होता है - वाचिक, आंगिक, सात्विक और आहार्य। वचनों के द्वारा जो अभिनय किया जाता है, उसे 'वाचिक' कहते हैं। भुजाक्षेप अर्थात् अंगों का कायिक अभिनय 'आंगिक' कहलाता है। स्तम्भ, स्वेद इत्यादि लक्षणों-अनुभावों को 'सात्विक' कहते हैं, और वेश रचना, वस्त्रालंकरण इत्यादि के द्वारा जो अभिनय किया जाता है, उसे 'आहार्य' अभिनय कहते हैं।

नाटक के सन्दर्भ में आचार्य भरत की घोषणा थी कि - "यह नाट्य तीनों लोकों के भावों का अनुकरण है। यह मैंने इसलिए बनाया है कि इसके द्वारा अनेक प्रकार के भावों तथा अवस्थाओं वाले संसार की दशा का अनुकरण किया जा सके। इसके द्वारा उत्तम, मध्यम और अधम सभी प्रकार के लोगों का चरित्र दिखाया जा सके। सातों द्वीपों के वासियों, देवताओं, ऋषियों, राजा और उसके परिजनों के द्वारा किये कार्यों का अनुकरण जिसके द्वारा प्रतिफलित किया जा सकेगा, वह 'नाट्य' कहलायेगा।"

विषयवस्तु के अनुसार हिन्दी नाटक के तीन प्रकार हैं -

१. त्रासदी (दुखान्त)
२. कामेदी (सुखान्त)
३. प्रसादान्त

त्रासदी नाटक का अन्त दुख भरा होता है और कामेदी सुख युक्त। इन दोनों के मध्य स्थिति है - प्रसादान्त की। प्रस्तुति के अनुसार नाटक के छः प्रकार हैं -

१. शास्त्रीय पद्धति से मंचित साहित्यिक नाट्य कृतियां।
२. ध्वनि (रेडियो) नाटक
३. टेली ड्रामा
४. नुक्कड़ नाटक
५. लोकनाट्य
६. नृत्य नाट्य।

इसके अतिरिक्त छाया नाट्य, कठपुतली आदि भेद-प्रभेद भी किए जा सकते हैं।

इलेक्ट्रानिक मीडिया (रेडियो, टी.वी.) ने इस बीच नए

श्रव्य-दृश्य रूप प्रस्तुत किए जिनमें रूपक, फीचर, फैंटसी, मोनोलोग, स्किट, प्रहसन आदि पर्याप्त लोक प्रचलित हैं। इधर रंगमंच के अनेक नए आयाम विकसित हो गए हैं जैसे झलकी तथा काव्य, कथाकृतियों के नाट्य रूपान्तरण। पिछले कुछ दशकों में पाश्चात्य विशेषतः शेक्सपीरियन रंगमंच की भी अवतारणा हिन्दी में हुई है। बच्चन जी ने शेक्सपियर के कई नाटकों के हिन्दी रूपान्तरण प्रस्तुत किए हैं। संस्कृत के कुछ अच्छे नाटकों को भी नए ढंग से हिन्दी मंच पर उतारा गया है, मुख्यतः 'मिट्टी की गाड़ी (मृच्छकटिक)' 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' आदि को।

इस बीच लोक नाटकों और साहित्यिक कृतियों के समन्वय का यत्न किया गया है, जैसे-विदेशिया शैली पर रेणु के प्रसिद्ध उपन्यास 'मैला आँचल' के नाट्यरूपान्तरण का मंचन उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, इलाहाबाद द्वारा आयोजित उत्तरक्षेत्रीय नाट्यसमारोह में 'कला संगम' (बिहार) के सतीश आनंद के निर्देशन में 'विदेशिया' के पारम्परिक लोकसंगीत और लौण्डानाच को परिष्कृत करके संस्कृत नाट्य शिल्प के सम्मिश्रण द्वारा यह सफल प्रयोग सम्पन्न हुआ। इस प्रकार के प्रयोग डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने बहुशः किए हैं। कहीं सत्यनारायण की कथा का रूपक, कहीं किस्सा तोता मैना का, कहीं 'मादा कैक्टस' का प्रतीक, कहीं अभिमन्यु का। पुराख्यानों का नवीकरण शंकरशेष के 'एक और द्रोणाचार्य' में उत्कृष्ट स्तर पर हुआ है।

इतिहास की नयी सन्दर्भ सापेक्षता भीष्म साहनी के 'हानूश' एवं ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'शुतुरमुर्ग' में देखने योग्य है। मोहन राकेश ने 'आधे अधूरे' तथा बीज नाटकों द्वारा ऐब्सर्ड मंच की अवतारणा की है। नौटंकी शैली का प्रयोग तो अनेक कृतियों में हुआ है। तात्पर्य यह है कि इस बीच अनेक प्रकार के नाट्य-शिल्प दर्शकों के समक्ष आए हैं। इनमें बाहुल्य है लोकधर्मी नाटकों का। उदाहरणार्थ हबीब तनवीर के न्यू थिएटर नाटक- 'आगरा बाजार', 'चरनदास चोर' आदि द्रष्टव्य हैं। साहित्यिक नाटक लोकजीवन के मिथकों, आद्यबिंबों और लोकसंवेदना के साथ तेजी से तदाकार हो रहे हैं और दर्शकों को आकृष्ट कर रहे हैं। आवश्यकता है - देशकाल सापेक्ष हिन्दी लोकमंच की पुनर्रचना की, याकि एक समेकित लोकमंच की संरचना की। भारतीय तथा पाश्चात्य विचारकों ने नाटक के तत्त्वों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। कथावस्तु, पात्र और रस तो नाटक के आवश्यक तत्त्व हैं ही, वृत्ति और अभिनेता भी नाटक के लिए अपरिहार्य हैं। इस प्रकार भारतीय दृष्टि से नाटक के पाँच तत्त्व हैं -

१. कथावस्तु
२. नेता अर्थात् प्रमुख पात्र
३. रस
४. अभिनय
५. वृत्ति



रामलीला - केवट संवाद

पाश्चात्य विद्वानों ने नाटक के सात तत्त्व माने —

१. कथानक
२. पात्र
३. सम्वाद
४. देशकाल—वातावरण
५. भाषा—शैली
६. उद्देश्य
७. रंगमंचीयता या अभिनेयता

नाटक मंचीय विधा है। उसकी सफलता इस बात में है कि उसका अभिनय सफलतापूर्वक मंच पर किया जा सके।

अंगों—प्रत्यंगों, भाव—भंगिमाओं, स्वर के आरोहावरोहों आदि के उपयोग से रंगमंच पर जो प्रदर्शन होता है, उसे अभिनय कहते हैं। इसके लिए रंगमंच की आवश्यकता होती है।

नाटक और रंगमंच परस्पर पूरक हैं। रंगमंच के अभाव में नाटक दृश्य नहीं हो पाता, वह पाठ्य नाटक भले ही बना रहे। इसी प्रकार नाटक का सम्पूर्ण वस्तु—विन्यास अंक दृश्यों का विभाजन तथा उसका दृश्य विधान रंगमंच में निहित रहता है।

स्वतंत्रता पूर्व हिंदी रंगमंच का इतिहास बहुत स्पष्ट नहीं है। यह जनश्रुति है कि सन् १५३३ में भरगाँव (नेपाल) में 'विद्या विलाप' नामक हिन्दी नाटक खेला गया था। सांगलीकर नाटक कम्पनी का 'गोपीचन्द्रोपाख्यान' आपेरा भी बहुत प्राचीन है। यों हिंदी रंगमंच का प्रस्थान ३ अप्रैल १८६८ को वाराणसी में मंचित शीतला प्रसाद त्रिपाठी कृत 'जानकी मंगल' से माना जाता है। लोक नाट्य तो और भी पुराने हैं। १८वीं शती में यहाँ पारसीक थियेटर आया। इसमें वाजिद अली शाह का रास, 'किस्सा राधा कन्हैया' और अमानत का लिखा 'इन्दरसभा' (१८५५) महत्त्वपूर्ण है। इस युग तक पहुँचते-पहुँचते संस्कृत-नाट्य परम्परा कालातीत हो गयी थी। भरत ने नाट्यशास्त्र में नाट्यकला के विभिन्न पक्षों पर विचार करते हुए रंगमंच कला का जो विस्तृत विवेचन किया था, वह लुप्तप्राय हो गया था। संस्कृत नाटकों की रचना प्रायः रंगमंच पर अभिनीत किये जाने की दृष्टि से होती थी। मध्यकाल में रासलीला, रामलीला, नौटंकी आदि का उदय होने से लोक मंच का प्रचलन बढ़ा, लेकिन तत्कालीन परिस्थितियों में इसका पूर्ण विकास नहीं हो पाया। भारतेन्दु ने अवश्य 'अंधेरनगरी' में लोक नाट्य को जीवित रखा क्योंकि वे स्वयं कुशल निर्देशक तथा अभिनेता थे। उन्होंने संस्कृत, अंग्रेजी तथा बंगला नाटकों से प्रेरणा लेकर पारसीक नाटकों की प्रतिक्रिया में हिंदी

की स्वतंत्र नाट्य परंपरा की स्थापना की। आधुनिक युग में सर्वप्रथम बंगाली रंगमंच अस्तित्व में आया। व्यावसायिक होते हुए भी इस रंगमंच में कला और साहित्य का अपूर्व समन्वय हुआ। पारसीक रंगमंच की शुरुआत १८५३ ई० से मानी जाती है। पहले इसके अभिनेता एवं दर्शक पारसी होते थे। आरंभ में यह पूर्ण अव्यावसायिक था। १८६७ ई० में पारसी रंगमंच का भारत में प्रवेश हुआ। फलतः १८६७-६८ में खुर्शीदजी वालीवाला ने दिल्ली में विक्टोरिया नाटक मंडली की स्थापना की। इसी क्रम में १८७० में एल्फिसटन नाटक मण्डली, एलेग्जेण्ड्रीया कम्पनी तथा १८७६ में एम्प्रस विक्टोरिया नाटक मण्डली की स्थापना हुई। इसके अतिरिक्त ओल्ड पारसी थियेट्रिकल कम्पनी, प्रिंस थिएट्रिकल कम्पनी, इम्पीरियल थियेट्रिकल कम्पनी भी चर्चित हैं। कुँवर जी नाजर ने पारसी रंगमंच में हिन्दू संस्कृति को स्थान दिया, मुख्यतः



ब्रज की रासलीला

'करुणवेला' नामक नाटक द्वारा। इसी क्रम में सत्य हरिश्चन्द्र, नंदबत्तीसी, सीताहरण, लवकुश आदि कई नाटक खेले गए। इन थियेट्रिकल कम्पनियों की कोई सुनिश्चित नाट्य-शैली नहीं थी। कथानकों का चुनाव प्रायः फारसी प्रेम कथाओं से, रामायण – महाभारत से, अंग्रेजी नाटकों (जैसे-हेमलेट, रोमियो-जूलियट) से या जन प्रचलित कथाओं (यथा-पूरनभगत, गोपीचंद) आदि से किया जाता था। प्रदर्शन प्रायः उत्तेजक होते थे, जैसे – खूनी खंजर या खूबसूरत औरत। इनका मुख्य उद्देश्य था दर्शकों का मनोरंजन करना। पारसीक रंगमंच की अतिनाटकीयता और व्यावसायिकता के कारण इनके नाटकों में अश्लील भाव भंगिमाएं, बचकाने नृत्य, अनावश्यक गीत योजना और चमत्कारी दृश्यों द्वारा जनता का सस्ता मनोरंजन किया जाता था। ये नाटक हिंदी संस्कृति और सामान्य जनरुचि के अनुकूल नहीं थे, लेकिन इन

सीमाओं के बावजूद पारसी रंगमंच का अपना योगदान है। इससे हिंदी नाटकों को लोकप्रियता मिली। इसी से प्रेरित होकर हिंदी रंगकर्मी निजी रंगमंच के प्रति सजग हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर १९३५ तक पारसी नाटकों ने अपने रंगमंचीय जादू से मंचप्रेमियों को बांधे रखा। इस दौर के नाटककारों में आगाहस्र कश्मीरी, अमानत, राधेश्याम कथावाचक, बेताब आदि प्रमुख हैं। प्रायः प्रत्येक पारसी कम्पनी के पास अपने नाटककार होते थे, जो निर्देशक एवं प्रबंधक के साथ विचार विमर्श करके रंग-रचना करते थे। नाटक में संगीत का बड़ा जोर रहता था। प्रस्तुति बड़ी व्ययसाध्य और श्रमसाध्य होती थी। चटपटे गीत, जोशीले संवाद, रोमांचक कथानक, शेरों की भरमार, मँहगे सेट अर्थात् बड़ी रोचक प्रस्तुति होती थी। इनके लिए रोबीले ऐक्टर्स का चयन किया जाता था, जो घण्टों उच्च स्वर में बोल सकें और



मुखौटों का नाटकीय प्रदर्शन

तलवार, भाला, गदा आदि भी चला सकें। इसी बीच कुछ अव्यावसायिक रंगमंच स्थापित हुए। अव्यावसायिक रंगमंच का प्रथम उन्मेष भारतेन्दु युग में हुआ। भारतेन्दु युग में अव्यावसायिक रंगमंच की स्थापना पारसी रंगमंच की प्रतिक्रिया में हुई थी। उसी प्रवाह में बनारस, कानपुर और लखनऊ में अनेक अव्यावसायिक नाटक मंडलियों की स्थापना की गई। इन मण्डलियों को प्रोत्साहन देने के लिए कई नाटकों में भारतेन्दु ने स्वयं अभिनय किया।

पं० माधव शुक्ल, बालकृष्ण भट्ट, महादेव भट्ट, गोपाल दत्त त्रिपाठी, ब्रजचंद्र, कृष्णदास आदि ने अव्यावसायिक नाट्य मंडलियां स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान किया। वाराणसी में 'काशी नागरी नाटक मंडली' ने कई प्रदर्शन किए। स्वयं भारतेन्दु इस दिशा में सक्रिय रहे। बनारस के 'रसिक मण्डल' ने १९३४ में प्रसाद लिखित 'चन्द्रगुप्त' का सफल मंचन किया। प्रयाग में कांग्रेस अधिवेशन के समय 'भारत सौभाग्य' नाटक खेला गया। कलकत्ता में 'हिंदी नाट्य समिति' और 'हिंदी नाट्य परिषद्' ने कई पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों का प्रदर्शन करके नाटक और रंगमंच को समकालीन जीवन से जोड़ने का स्तुत्य प्रयास किया। किंतु धीरे-धीरे ये नाट्य मंडलियां अर्थाभाव और पारस्परिक मतभेद के कारण समाप्त हो गयीं। द्विवेदी युग में मंचन को प्रोत्साहन नहीं मिला। छायावाद युग में पद्य नाटकों या काव्य नाटकों का प्रचलन तो बढ़ा, किंतु मंच उपेक्षित रहा।

प्रगतिवाद युग में हिन्दी रंगमंच में एक नया मोड़ आया। १९३६ ई० में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई। इसने 'भारतीय जन नाट्य संघ' (इप्टा) का गठन किया और अपना पहला प्रदर्शन बम्बई में सन् १९४२ में किया। इप्टा ने विभिन्न भारतीय भाषाओं में नाटकों को लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इप्टा ने नाटकों का मंचन जनता के बीच किया और ऐसे नाटक अधिक प्रस्तुत किए, जिनमें गरीब जनता के दुख-दर्द एवं शोषण के यथार्थपूर्ण मार्मिक दृश्य थे। इस अवधि में सरवालकर का 'दादा' और सरदार जाफरी का 'यह किसका खून है' नाटक महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। इस प्रकार एक सामाजिक सोद्देश्य कथावस्तु हिंदी रंगमंच को प्राप्त हो गयी। मानवीय संवेदना रंगमंच के माध्यम से सशक्त रूप में प्रस्तुत होने लगी। रंगविधान के साथ सोद्देश्य नाट्य चेतना की धारा को अखिल भारतीय स्तर पर प्रवाहित करने का वास्तविक कार्य भारतीय जन-नाट्य संघ ने किया। सन् १९५० ई० के बाद भारतीय जन नाट्य संघ का वह प्रभाव भी समाप्त हो गया। सन् १९५५ में पृथ्वीराज कपूर ने 'पृथ्वी थियेटर्स' की स्थापना की। यह पारसी रंगमंच से प्रभावित होने पर भी उससे पर्याप्त भिन्न था, परन्तु इसने किसी न किसी रूप में प्रगतिशील नाट्य परंपरा से अपने को जोड़े रखा। यह भारतीय जीवन के यथार्थ को प्रकट करने में पूर्ण सफल रहा। पृथ्वीराज कपूर का अभिनय हिंदी रंग जगत की एक उल्लेखनीय उपलब्धि है। पृथ्वी थियेटर्स द्वारा



नौटंकी का एक दृश्य

अभिनीत अन्य प्रमुख नाटक रहे हैं— दीवार, गद्दार, आहुति, कलाकार, पैसा और किसान। इनका प्रथम नाटक था 'शकुन्तला', जिसमें पृथ्वीराज ने दुष्यंत की भूमिका अदा की थी। उनके बहुचर्चित नाटक 'पठान' का मंचन निरन्तर १४ वर्षों तक हुआ। दुर्भाग्यवश घाटे की अर्थव्यवस्था और पृथ्वीराज की दीर्घ अस्वस्थता के कारण सन् १९६० में इसे बंद कर दिया गया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् रंगमंच की दिशा में कुछ नए प्रयास हुए। इस बीच भारतीय नाट्य संघ की २५ शाखाएँ स्थापित की गईं। इसके आज लगभग २०० सदस्य हैं। रवीन्द्र शती वर्ष में कई राजधानियों में नाट्य गृह निर्मित किए गए। केन्द्र सरकार का 'गीत नाट्य संभाग' इस दिशा में संप्रति कार्यरत है। इधर ध्वनि, प्रकाश के अच्छे प्रयोग हुए हैं। सन् १९४७ के बाद बम्बई, दिल्ली आदि महानगरों तथा कई उपनगरों जैसे—बनारस, कानपुर, जयपुर, लखनऊ, इलाहाबाद आदि में भी रंगमंचीय संस्थाएँ सक्रिय हुईं। अनेक छोटी—बड़ी नाट्य संस्थाएँ मूल नाटकों या अनुवादों का अभिनय प्रस्तुत करने लगीं। साहित्यिक नाटकों का भी सृजन होने लगा। प्रतिष्ठित परिवारों की महिलाओं ने अभिनय में भाग लेना आरंभ कर दिया। जनसाधारण का ध्यान अभिनय कला की ओर आकृष्ट हुआ। वस्तुतः दिल्ली के रंगमंच ने अभिनय, प्रदर्शन और रंगमंचीय गतिविधियों को नया मोड़ दिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार का भी ध्यान इस कला के विकास की ओर गया। इसे समृद्ध बनाने के लिए भारत सरकार ने संगीत नाटक अकादमी, लोक नाट्य अकादमी आदि की स्थापना की। इस बीच पूर्ण नाटकों के साथ ही एकांकी का प्रचलन हुआ। इसके विषय मुख्यतः सामाजिक, पौराणिक तथा ऐतिहासिक थे। इनमें राष्ट्रीयता का प्रगल्भ स्वर था। इस बीच समस्या नाटक भी लिखे गए। इन पर इब्सन का विशेष प्रभाव दिखाई देता है, किंतु सर्वाधिक प्रभाव है लोकनाट्य का। दिल्ली के रंगमंचों में संप्रति उल्लेखनीय हैं— श्री आर्ट्स क्लब, दिल्ली आर्ट थियेटर, श्रीराम सेण्टर, लिटिल थियेटर ग्रुप, इंद्रप्रस्थ थियेटर, यांत्रिक, कला साधना मंदिर, रंगमंच आदि नाट्य संस्थाएँ। इनके अतिरिक्त—अग्रदूत, अंकिता, अभियान, छायानाट, प्रयोग, सृजन आदि संस्थाएँ भी दिल्ली में उभरी हैं। इस युग में रेडियो का माध्यम लोकप्रिय हुआ, फलतः कई अच्छे ध्वनि नाटक समय समय पर प्रस्तुत किए गए। डा० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र, गिरिजा कुमार माथुर, धर्मवीर भारती, जगदीश चन्द्र माथुर, उपेन्द्रनाथ अशक, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी चिरंजीत आदि ध्वनिनाट्य कला की दृष्टि से भी उल्लेखनीय हैं।

इसी विचारक्रम में इण्डियन नेशनल थिएटर तथा हिन्दुस्तानी थिएटर के प्रयोग भी स्मरणीय हैं। ये संस्थाएँ लोकनाट्य कला से संबद्ध रही हैं। सन् १९५६ ई० में संगीत नाटक अकादमी के तत्वावधान में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (नेशनल स्कूल आफ ड्रामा) और एशियन थियेटर इंस्टीट्यूट की स्थापना हुई। नेशनल स्कूल आफ ड्रामा, शिक्षा एवं संस्कृति मंत्रालय का एक स्वायत्त संगठन बन गया। इसमें तीन वर्ष की नाट्य शिक्षा प्रदान की जाती है। भारतीय और पाश्चात्य नाट्य साहित्य के अध्ययन के साथ—साथ ऐक्टिंग, सिनिक डिजाइन, कास्ट्यूम डिजाइन, लाइटिंग, मेकअप, थियेटर आर्किटेक्चर, लोक कला आदि का प्रायोगिक अध्ययन यहाँ कराया जाता है। इसमें डायरेक्शन, स्टेजक्राफ्ट और स्कूल ड्रामेटिक्स का विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है। अकादमी यदाकदा लोक नाट्य समारोह तथा गोष्ठियाँ आयोजित करती है और नाट्य दलों को अनुदान भी देती है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के विद्यार्थियों द्वारा समय—समय पर लोक नाटकों या लोक धर्मी नाट्य कृतियों का अभिनय—प्रदर्शन किया जाता है। इस कला में नसीरुद्दीन शाह, राजबब्बर, ओम शिवपुरी आदि की विशिष्ट देन है। इसके पास अपना 'ओपेन एयर थियेटर' है। इसके भूतपूर्व निदेशक अब्राहम अलकाजी, ब०व० कारंत और ब्रजमोहन शाह विभिन्न लोकनाट्य प्रयोगों के कारण विशेष उल्लेखनीय हैं। सन् १९५५ में कलकत्ता में 'अनामिका' की स्थापना हुई। इसने भी लोक कला को प्रश्रय दिया। इसके निदेशकों में श्यामानंद जालान, प्रतिभा अग्रवाल आदि की लोक प्रस्तुतियाँ उल्लेखनीय हैं। यहाँ १९६६ में 'अदाकार' की और १९४५ में 'संगीत कला मन्दिर' की शुरुआत हुई है। गोर, डी०एल०राय से बादल सरकार तक का बंगीय नाट्य लेखन समूचे भारतीय मंच के लिए प्रेरक रहा है। डा० लक्ष्मी नारायण लाल, मोहन राकेश, हबीब तनवीर आदि नाटककार बंगला रंगकर्मियों से और मराठी नाटककार विजय तेंदुलकर से पर्याप्त प्रेरित प्रतीत होते हैं। अतियथार्थवादी, प्रतीकवादी, ऐब्सर्डबोधपरक विसंगत नाटक, बीजनाटक और लोकनाट्य वस्तुतः आधुनिक नाट्य की एक समेकित खोज है। बम्बई की नाट्य संस्थाएँ इधर फिल्म की चपेट में आ गयी हैं, फिर भी काफी सक्रियता है वहां। इनमें सत्यदेव दुबे के निर्देशन में चलने वाली नाट्य संस्था 'थियेटर यूनिट' महत्त्वपूर्ण है। शशिकपूर ने १९७५ में 'पृथ्वी थिएटर्स' को पुनः सक्रिय किया है। इसके अतिरिक्त नादिरा बब्बर, शबाना आजमी, जया बच्चन आदि का कृतित्व भी महत्त्वपूर्ण है। अन्य नगरों में जयपुर का 'रवीन्द्र रंगमंच', कानपुर, लखनऊ की संस्था 'दर्पण', इलाहाबाद का 'प्रयाग रंगमंच' वाराणसी की 'नागरी

नाटक मंडली', 'श्री नाट्यम्' आदि नाट्य संस्थाएं हिंदी लोक मंच के उत्थान में सक्रिय हैं। तात्पर्य यह है कि हिंदी का रंगमंच सम्प्रति पर्याप्त परिपुष्ट है। यदि हम अनूदित नाटकों और नाट्य रूपान्तरणों की अपेक्षा इन्हें प्रश्रय दें और निदेशक लेखक के साथ मिलकर चलें तो यह मंच और सफल हो सकता है।

किन्तु आधुनिक नाट्य शिल्पों की तुलना में हिन्दी का 'लोकमंच' तेजी से नहीं उभर रहा है। अनेक लोककलाएं शहरों में ही सिमटकर रह गयी हैं। वे आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में अपना प्रकृत रूप खो बैठी हैं। इनकी परिणति चूँकि व्यावसायिक कला के रूप में हो गयी है और व्यवसाय अधिकतर नगरों में केन्द्रित हैं, इसलिए रामलीला, रासलीला, नौटंकी आदि शहरी मंचों की ओर खिंचती जा रही हैं। यह एक ओर लोककला का विकास है, दूसरी ओर लोक संस्कृति का हास। नगरीय मंचों पर न वह लोकभाषा मिलती है और न वह निराडम्बर कला। लोकनाट्य कला को जीवित रखने के लिए आवश्यक है कि उन्हें अपने मूल से, अपनी प्रकृत जलवायु से, अपने समानधर्मा दर्शक वृन्द से और ग्राम्य परिवेश की समस्याओं से पुनः संबद्ध किया जाए।

इधर शासन का ध्यान इस दिशा में गया है। इस मंच को अब विकास कार्यों के प्रचार-प्रसार हेतु प्रयुक्त किया जाने लगा है। कठपुतली नृत्य-नाट्य तो जन संचार का बहुत बड़ा माध्यम बन गया है। मंचीय नाट्य भी नुक्कड़ नाटक रूप में काफी लोकप्रिय हो चला है। आवश्यकता यह है कि अलग-अलग जातियों द्वारा प्रदर्शित नृत्यनाट्य जैसे पसिया, धोबिया, चमरानाच के प्रशिक्षण शुरू किए जाएं और इनके श्रव्य-दृश्य रिकार्ड तैयार करा लिए जाएं। इनका इतिहास तथा लोकशास्त्र निर्मित करना तो हमारी प्राथमिकता है।

आधुनिक रंगमंच और लोकमंच

हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में नित्य नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। प्रतीकधर्मी और नाट्यधर्मी दोनों तरह के रंगमंचों की स्थापना तेजी से की जा रही है। इनमें पेटिका मंच, आकाश रेखा मंच, एक दृश्य, बहु पीठात्मक दृश्य, परिधि रंगमंच, केन्द्रीय चक्राकार मंच आदि महत्वपूर्ण हैं। समन्वय की दृष्टि से मुक्ताकाश मंच विशेषतः उल्लेखनीय हैं। अभी इसे कौतुकपूर्ण बनाने का आग्रह दिखायी देता है, जबकि आवश्यकता है सरलीकरण की। नाटक की सफलता आलेख और अभिनय पर निर्भर होनी चाहिए, न कि आहार्य, रोशनी की चकाचौंध और कला-करतब पर। नुक्कड़

नाटक इसका आदर्श रूप है। मुक्ताकाश मंच में लोकमंच की तरह ही यदि कलाकार अभिनय कर लें तो नाटक सहज (लोकप्रिय) हो जाए। इस प्रकार के मुक्ताकाश रंगमंच हमारे देश में प्राचीनकाल से प्रचलित रहे हैं। वर्तमान मुक्ताकाश मंच लोकमंच से भिन्न है। इसकी अपनी वैज्ञानिक निर्माण विधि है। इसकी सेटिंग व्यवस्था पर्याप्त पृथक् हो गयी है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता (पृथकता) है—'साइक्लोरोमा'। यह वक्राकार दीवार मंच के सबसे पीछे रहती है। मंच के दोनों ओर दो द्वार होते हैं। एक प्रवेश द्वार, दूसरा निष्कासन द्वार। बीच में तीस फीट की दूरी पर दो सीढियाँ दिखती हैं। इस रंगमंच में पर्दों का उपयोग नहीं किया जाता। पर्दों का काम रंगबिरंगे फब्बारों से लिया जाता है। जब दृश्य परिवर्तन करना होता है तो पानी की दीवार बना दी जाती है, जिसे साइक्लोरामा कहते हैं। यह दीवार अभिनेता की ध्वनि को पीछे जाने से रोकती है और प्रभावान्विति बढ़ा देती है। यह टेक्नीक वस्तुतः बड़ी उपयोगी है।

इन सबसे पर्याप्त पृथक् है लोकमंच, जिसके लिए प्लेटफार्म भी आवश्यक नहीं है। नुक्कड़ नाटक की भाँति यह सम धरातल पर हो सकता है। आहार्य साधारण, प्रसाधन सामान्य, अलिखित संवाद अर्थात् सब कुछ प्रकृत रूप में। कुछ लोकनाट्य मंचापेक्षी होते हैं, जैसे रामलीला, रासलीला, नौटंकी आदि (शायद शास्त्रीय या पारसीक पद्धति से प्रेरित होकर)। यों सामान्यतः लोकनाट्य लोक कला की ही सहज देन है।

मंचन की दृष्टि से नाटक के प्रमुख दो रूप हैं —

१. लोकनाट्य
२. शास्त्रीय

लोकनाट्य की प्रस्तुति सहज रूप से होती है। यद्यपि उसमें कथावस्तु, पात्र तथा रस — इन तीनों तत्त्वों का सन्निवेश रहता है, फिर भी वह शास्त्रीय कट्टरता से मुक्त रहता है।

लोकनाटक की विषय वस्तु को ५ भागों में विभाजित किया जा सकता है —

१. कथानक या लोक कथा
२. गीत
३. नृत्य
४. मिथ अर्थात् नाट्यरूढ़ियाँ
५. समकालीन जीवन।

लोकनाटक में पुराण, इतिहास अथवा जनश्रुति पर आधारित कोई न कोई लोक विख्यात घटना अवश्य होती है। इसमें

गीतों का बाहुल्य होता है। कहीं कहीं तो मात्र पद्यात्मक संवाद ही होते हैं। गद्य बहुत कम आता है। नृत्य लोक नाट्य में प्रायः अनिवार्य जैसा है। इससे भावावेग की सृष्टि होती है। वस्तुतः रसावेश जितना लोकनाट्य से उभरता है उतना शास्त्रीय कला कृतियों द्वारा नहीं। यहां तो द्रष्टा और अभिनेता दोनों रस विभोर हो उठते हैं। लोकनाट्य प्रायः मौखिक आशु संवादों पर चलते हैं, अतः समकालीन जीवन उसमें निरन्तर प्रतिध्वनित होता रहता है।

लोकनाट्य का मंच प्रायः पूर्व निर्धारित या निर्मित नहीं होता। वह कभी और कहीं खेला जा सकता है। उसमें दृश्य सज्जा की आवश्यकता नहीं। एक घोषणा के साथ दर्शक स्वयं दृश्य का अनुमान कर लेते हैं। चारों ओर से खुले मंच पर साधारण आहार्य, बस विषयवस्तु और वाचिक कायिक अभिनय के सहारे लोकनाट्य दर्शकों को घण्टों-घण्टों बाँधे रहता है। हिन्दी जगत में प्रचलित लोकनाट्यों, विशेषतः रामलीला, रास और नौटंकी पर यद्यपि शास्त्रीय नाट्य मंच विशेषतः पारसी थियेटर का प्रभाव आ गया है, फिर भी उनकी लोकनाट्यकला अभी सुरक्षित है।

हिन्दी लोकनाट्य का इतिहास बहुत पुराना है; शास्त्रीय नाट्य से भी अधिक ! वस्तुतः प्रत्येक साहित्य और कला आरंभ में लोकधर्मी होती है, फिर उसका शास्त्र बनता है। आचार्य भरत ने लिखा है कि स्वाभाविक नाट्य तो लोकधर्मी ही होता है —

“स्वभाव भावोपगतं शुद्ध तु विकृतं तथा
लोकवार्ता क्रियोपेतमृङ्गलीलाविदर्जितम्।
स्वभावाभिनयोपेतं नाना स्त्री पुरुषाश्रयम्
यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु सा स्मृता।।”

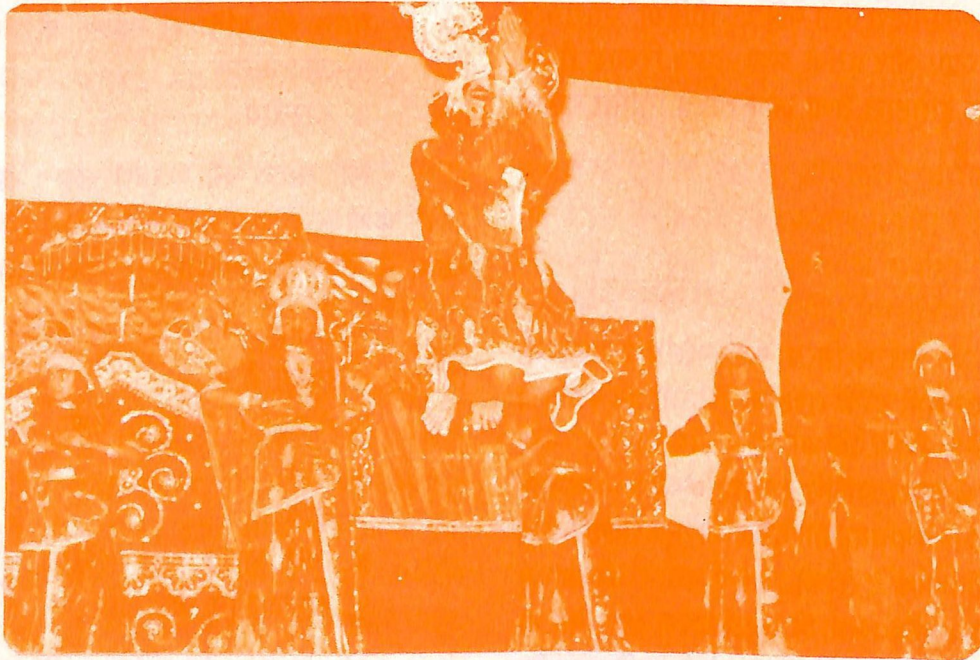
लोक नाट्य मानव मन की संवेदना को प्रकृत रूप में व्यक्त करता है। यह किसी व्यक्ति विशेष की रचना नहीं, बल्कि सामूहिक चेतना का उद्गार और सामूहिक मानस प्रज्ञा का पुरस्कार होता है।

इसके आधारभूत तत्त्व हैं —

१. अखाड़ा—अर्थात् संचालक, गायक, वादक वर्ग के केन्द्र।
२. अभ्यास—पात्रचयन, शिक्षा, पूर्वाभ्यास।
३. संगीत—भाषा, रस, नाटकीयता, प्रयोग, प्रस्तुति।
४. मंच—वाद्य, नेपथ्य, अभिनय, आहार्य।
५. प्रस्तुति—प्रचार प्रसार और प्रबन्धन।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर लोकनाट्यों का वर्गीकरण अनेक कोटियों में किया जा सकता है, जैसे—

१. दीर्घकालिक (रामलीला, नौटंकी)
२. अल्पकालिक प्रहसन (स्वॉंग, भंडैती, बहुरूपिया) प्रस्तुति के आधार पर इन्हें नृत्यप्रधान (जैसे रास), हास्य प्रधान (जैसे—भाँड), संगीत प्रधान



रासलीला में नृत्य की एक मनोहारी मुद्रा

(जैसे-नौटंकी), कर्ताप्रधान (जैसे-रामलीला) आदि वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

हिन्दी लोकनाट्य चेतनपात्रों के साथ ही अचेतन पदार्थों-जैसे-गुड़िया, कठपुतली द्वारा और पशु पक्षियों द्वारा भी प्रस्तुत किए जाते हैं। इनकी कथावस्तु को सामाजिक, धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक आदि श्रेणियों में रखा जा सकता है।

लोकनाट्यों का रचना संसार बहुत विस्तृत होता है। पुराण तथा इतिहास प्रसिद्ध त्यागी, पराक्रमी, साहसी चरित नायकों जैसे-मौरध्वज, आल्हाऊदल, हरिश्चन्द्र आदि का यशोविस्तार इनका प्रमुख प्रतिपाद्य होता है।

दर्शकों की मनःस्थिति के अनुरूप उनका मनोविनोद करते रहता इन कलाकारों का अभीष्ट होता है। बीच-बीच में सामाजिक रचनाओं को उजागर करते हुए लोकनाट्य को समय सन्दर्भ से जोड़ दिया जाता है। इसमें भाग लेने वाले पात्र प्रायः अव्यावसायिक होते हैं। उनका अभिनय एकांकी न होकर समूहगत होता है। अभिनय में नृत्य मुद्राएं ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं। संगीत योजना इसकी पूरक कही जा सकती है और प्रसाधन (सज्जा) इसकी प्रेरक।

लोकमंचों के भाषिक संवादों में आंचलिकता का विशेष पुट रहता है। क्षेत्रीय लोकाचार, लोकविश्वास, लोकोक्ति, लोककथाएँ आदि इसमें सहजरूप से मुखरित होती हैं।

इस प्रकार लोकरंजन तथा लोक शिक्षण की दुहरी भूमिकाएँ निभाती हुई हिन्दी लोकनाट्यकला हमारे जन जीवन की एक अनमोल संपदा है।

उत्तर प्रदेश के अवध अंचल, ब्रजभूमि और पूर्वांचल में लोकनाट्यों की समृद्ध परम्परा है। कुमाऊ, गढ़वाल, तराईक्षेत्र, बुन्देलखण्ड, रुहेलखण्ड आदि क्षेत्रों में भी इनकी परम्परा विद्यमान है और वह सूक्ष्म अध्ययन-अन्वेषण की अपेक्षा रखती है। आवश्यकता है कि नाट्य रचना और मंच प्रस्तुति-इन दोनों कसौटियों पर परखकर इनका मूल्यांकन किया जाए।

प्रमुख लोकनाट्य

१. रामलीला

यह हिन्दी का सर्वप्रिय लोकनाट्य है। यह समग्र लोकमानस द्वारा विरचित मौखिक और आंशिक रूप से लिखित

बृहत् नाट्य है। इसमें शास्त्रीयता तथा लोकनाट्य दोनों का सम्मिश्रण है। सम्प्रति इसकी अनेक पाठ-प्रतियाँ उपलब्ध हैं। इनमें पं० जानकीप्रसाद त्रिपाठी रचित रामलीला सर्वाधिक प्रचलित है। जनश्रुति है कि इस लीला का प्रचलन तुलसी ने मेधाभगत के सहयोग से किया था। इसके संवादों में कविकेशव की भी गूँज है। मंचन पर पारसी थिएटर का प्रभाव दिखायी देता है। इसके प्रचलन का इतिहास बड़ा पुराना है। ऐसी जनश्रुति है कि राम के वन गमन के उपरांत उनके परिजनों-पुरजनों ने प्रवासजन्य विरह-व्यथा के उपशमन हेतु उनकी जीवन-लीलाओं का जो अनुकरण और स्मरण किया, वही कालान्तर में रामलीला कहलाई। यह भी मत है कि आचार्य बल्लभ की रासलीला की स्पर्धा में तुलसी ने रामलीला शुरु की। आज इसके कई प्रकारान्तर हैं। काशी और अयोध्या इसके प्राचीन कला केन्द्र हैं। सम्प्रति यह महानगरों में केन्द्रित है और काफी प्रचलित हो गयी है। महानगरों में यह लोकमंच शास्त्रीय मंच में कुछ कुछ रूपान्तरित हो गया है, पर अवध में इसका अपेक्षाकृत अविकल रूप सुरक्षित है। प्रतिवर्ष वहाँ आश्विन में इसकी स्थापना होती है और विजयदशमी के दिन गाँव-गाँव में इसका आयोजन किया जाता है। काशी की रामलीला अनंत चतुर्दशी से शुरु होती है। इस की एक मौखिक परम्परा है अर्थात् पात्रों के संवाद लिखित रूप में पूर्वनिर्धारित नहीं होते हैं।

रामलीला में राम लक्ष्मण और सीता आद्योपांत मौन रहते हैं, केवल वानर और राक्षस दल अपनी उछलकूद के साथ जय-जयकार या हाहाकार प्रकट करते रहते हैं। रामकथा से सम्बन्धित पात्रों और वृत्तांतों की कहीं-कहीं शोभा-यात्रा भी निकाली जाती है, जिसमें विभिन्न छवियों, झाँकियों और क्षणस्थिर दृश्यों (टेब्ल्यू) द्वारा रामलीला का मूक अभिनय प्रस्तुत किया जाता है। रामलीला का सवाक् लोकमंच भी दो प्रकार का होता है-

१. तात्कालिक या आशु (इक्सटेम्पोर) संलाप युक्त नाट्य।

२. पूर्व स्मृत नाट्य।

अवध में उपर्युक्त दोनों रूप प्रचलित हैं। तात्कालिक अभिनय में पर्याप्त अनेकरूपता दृष्टिगत होती है, साथ ही अस्थिरता भी। इनमें केवल रावणवध का ही प्रकरण प्रदर्शित किया जाता है। दूसरे प्रकार के मंच स्थायी होते हैं। उनके समक्ष एक स्थायी नाट्यकृति होती है, जिसके मूल रचयिता पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र कहे गए हैं। यह रामलीला नाटक अनेक परिवर्द्धनों अथवा

प्रेक्षकों के कारण अपने मूल से नितांत भिन्न हो गया है। इसमें विश्वामित्र द्वारा राम-लक्ष्मण की याचना, ताडका वध, अहल्योद्वार, सीता स्वयंवर, वनगमन, रावणवध आदि वृत्तांत समाहित हैं। इसके संवाद अधिकांशतः 'मानस' से ही उद्धृत हैं। कहीं-कहीं कुछ अन्य कवियों के स्फुट छंद ले लिये गये हैं और अपवाद रूप में राधेश्यामी तर्ज की पंक्तियाँ तथा कुछ शेर (वतर्ज नौटंकी) भी जोड़ दिए गए हैं। पद्यात्मक संवादों की प्रायः 'वार्तिक' (गद्य संलाप) द्वारा पुनरावृत्ति भी की जाती है। एक उदाहरण प्रस्तुत है। विश्वामित्र की याचना पर दशरथ निवेदन कर रहे हैं -

- लो राजताज दौलत लश्कर इसमें मुझको तक रार नहीं।
आज्ञा हो तो मैं चला चलूँ इसमें भी कुछ इंकार नहीं।
(राधेश्यामी तर्ज)

- चौथे पन पायो सुत चारी, विप्र न बोल्यो बचन
बिचारी। (मानस)

- ताते मुनि राय अब दीजै रजाय मोहूँ,
चलों संग आपके सजाय संग भारी है।
हाथी, ऊँट, घोड़े पै सवार अस्त्रधारी वीर,
रथन पै महारथी पैदल करारी है।
डंका धुधुवाय अरु बाजा बजवाय औ
झण्डा फहराय जौनु वीरता को धारी है।
किन्तु ऋषिराय माँगों हाथ जोरि माथो नाय,
कहो घर रहै रामलाल महतारी है।

(ज्वाला प्रसाद कृत रामलीला)



रामलीला में पारम्परिक मुखौटों का प्रयोग

□ मेरे पुत्रों के माता पिता अब तुम्ही,
इनपे रखना हमेशा कृपा की नजर।
मैं हुआ बेफिकर आपको सौंपकर,
करना अब तुम फिकर, करना अब तुम फिकर..।
(नौटंकी)

□ “सो मुनिराज रामलला कौं न लीजै, कछू और आज्ञा
दीजै। (वार्तिक)

इस प्रसंग में पांचों प्रकार के नमूने आ गए हैं। इनमें अवधी, ब्रज, खड़ी बोली और उर्दू के सम्मिश्रित शब्द हैं, साथ ही अनेक प्रकार के छंद, स्वर – लय आदि भी हैं।

रामलीला के मुख्यतः ३ प्रारूप हैं, जिन्हें खण्डशः कई दिनों में मंचित किया जाता है। इनमें प्रमुख हैं –

१. निशाचरी
२. धनुषयज्ञ
३. रावणवध।

उत्तररामचरित (सीता वनवास, लवकुश युद्ध) का समावेश इसमें नहीं है। प्रायः निशाचरी का आयोजन रात्रि में, धनुषयज्ञ का अपरान्ह और रावणवध सायंकाल सम्पन्न होता है। यह रामलीला चल – अचल दोनों मंचों पर प्रस्तुत की जाती है। कहीं अभिनय रंगमंच विहीन होते हैं, कहीं सम धरातल पर और

कहीं प्लेटफार्म–रंगमंच पर। निशाचरी में मुख्यतः ताडका, सुबाहु, मारीच आदि राक्षसों के वध–विग्रह की कथा है। धनुषयज्ञ में अहल्योद्धार, मिथिलादर्शन, जनकवाटिका और सीता–स्वयंवर के प्रसंग हैं। रावणवध एवं लंका विजय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रकरण हैं। इनका अभिनय अपेक्षाकृत सहजसाध्य होता है। निशाचरी के लिए एक ऊँचा मंच बनाया जाता है, जिसमें एकाध पर्दा लगा दिया जाता है। राक्षस पात्र मुखौटे धारण करते हैं और सन, जूट आदि से निर्मित भयंकर केश भी। इनके मुख काले रंग से रंगे जाते हैं। इनके पास काष्ठ निर्मित कृत्रिम शस्त्रास्त्र होते हैं। ये खल पात्र अपने भयानक आकार–प्रकार और चीत्कार से दर्शकों में रोमांच या आतंक पैदा करते हैं। इनके पद्यात्मक संलाप, विशेषतः कोरस गीत सवाद्य प्रस्तुत किए जाते हैं। ऋषियों–मुनियों का आहार्य परम्परित (अर्थात् भगुआ वस्त्र) कहा जा सकता है। इनकी श्वेत जटाएं, दाढ़ी, अचला, उत्तरीय, कमण्डल, पादुकाएं आदि शुद्धता पूर्वक सँजोकर रखी जाती हैं। राम लक्ष्मण का प्रसाधन विशेष मनोयोग पूर्वक किया जाता है। उनके रंगलेपन में मुर्दासिंघी (शंखी) भस्म, रंग, कज्जल, चंदन, रोली, गेरू और चमकीली पन्नी का प्रयोग होता है। ये घुँघराले, लम्बेकेश, स्वर्णमुकुट, धनुषबाण, पीतवस्त्र (धोती, कोट, पीताम्बर) अलंकारादि धारण करते हैं। मुकुट की विशेष पूजा की जाती है। सीता का अभिनय भी पुरुष पात्र द्वारा कराया जाता है। रामलीला में नारी पात्रों का एकांत अभाव होता है। इसके अभिनेताओं के चयन में



ब्रज की रामलीला

पर्याप्त सावधानी बरती जाती है। किशोर राम लक्ष्मण के अनुकर्ता "सरूप" कहलाते हैं। भक्त दर्शक उनकी चरण वंदना करते हैं आरती उतारते हैं और धनधान्य चढ़ाते हैं। सवारी के समय इन पर पुष्प, खील, बताशे और पैसों की निछावर लुटाई जाती है।

इनकी भूमिका हेतु ब्रह्मचारी एवं सात्विक ब्राह्मण कुमारों का चयन किया जाता है। उन्हें प्रशिक्षण देते हुए वर्ष पर्यन्त आवेशावतार हेतु एक मनोविज्ञान में ढाला जाता है। राम-लक्ष्मण के अनुकर्ताओं का प्रियदर्शन होना और साथ ही उच्चस्वर युक्त सुरीला गायक होना अनिवार्य है। लक्ष्मण के अभिनेता का ओजस्वी होना भी आवश्यक है, क्योंकि रामलीला में लक्ष्मण-परशुराम प्रसंग का सर्वाधिक महत्व है और इस अभिनय में ओज का ही प्राधान्य है। इसीलिए इन पात्रों का विधिवत् पूर्वाभ्यास कराया जाता है। गौण पात्रों के लिए कोई विशेष प्रतिबंध नहीं है। वे अपनी घरेलू पोशाक पर एक कोट धारण कर लेते हैं और यथासन्दर्भ अपना 'पार्ट' बोल देते हैं। कभी-कभी ये कलाकार दुहरी भूमिकाएँ अदा कर देते हैं। अभिनय करते हुए वे दर्शकों से भी सम्पर्क बनाए रखते हैं। पार्श्व वाचन के रूप में, साथ ही सूत्रधार रूप में कार्य करती हैं - रामायणी पण्डितों, कथावाचकों या व्यासों की मण्डली, जो 'मानस' की पंक्तियों के आधार पर समुचित रंग निर्देश देती है और परिवेश का चित्रण करती है, जैसे - परशुराम के आगमन के पूर्व वह हारमोनियम, ढोलक, तबले आदि वाद्यों द्वारा समवेत

स्वर से घोषणा करती है -

**"तेहिं अवसर सुनि शिव धनुभंगा,
आए भृगुकुल कमल पतंगा।"**

इन्हीं पंक्तियों के साथ परशुराम पदार्पण करते हैं और आरम्भ होती है-"परशुरामी"। आयोजन के पूर्व आरती, वंदना, बीच-बीच में गायन और अंत में विसर्जन करके यही मण्डली मुख्य संचालनकार्य सम्पन्न करती है। रामलीला मंच पर ध्वनि विस्तारक यंत्रों का प्रवेश प्रायः नहीं होता है।

रामलीला की दृश्य योजना बड़ी निराडम्बर कही जा सकती है। मंच पर एक श्वेत चादर डाल कर गंगा नदी का दृश्य दिखा दिया जाता है। फूलों के कुछ पौधे लेकर बालक बैठ जाते हैं, जिसे 'जनक वाटिका' मान लिया जाता है। दश शीश रावण, मंदोदरी, कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि के पुतलों को स्थायी रूप से किसी विस्तृत क्षेत्र में प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। दशहरे पर इनकी रंगाई-पुताई कर दी जाती है। रामलीला (रावणवध) के दिन राम इसी पुतले पर गोलों-पटाखों की ध्वनि के बीच प्रतीक रूप में शर-संधान कर देते हैं या कागज के बने पुतलों को जला देते हैं, जिसे घंट, घड़ियाल, शंख और जयध्वनि द्वारा लंका विजय कहा जाता है। यह अभिनय धरातलीय मंच पर होता है। कहीं-कहीं राम लक्ष्मण को एक उच्चासन पर बैठाया जाता है। सीता स्वयंवर में राम लक्ष्मण का मंच मुख्य मंच से पृथक्, दर्शक



रामलीला - बलि वध

मण्डली के बीच बनाया जाता है। शिव धनुष को एक अन्य उच्च पीठिका पर रखा जाता है। यह प्रथा काशी की बहुस्थलीय रामलीला से प्रभावित है, जहाँ २१ किलोमीटर की दूरी में विभिन्न स्थलों पर अयोध्या, मिथिला, चित्रकूट, लंका आदि पृथक् पृथक् चल मंच हैं। चित्रकूट और अस्सीघाट (वाराणसी) की रामलीला को 'झांकी लीला' और रामनगर की रामलीला को 'घटित लीला' कहते हैं। इनमें वनगमन, धनुषयज्ञ, भरतमिलाप आदि बहुत प्रसिद्ध हैं।

रामलीला की हास्य योजना भी उल्लेखनीय है। यहाँ हास्य की स्वतंत्र स्थिति होती है और मिश्रित भी। स्वतंत्र हास्य (कामिक्स) के रूप में विदूषकों के संवाद रखे जाते हैं। निशिचरों के आलाप, पण्डों के प्रलाप, जनकपुरी के व्यापारियों के अपलाप, दुष्ट साधु, सुमति विमति, लक्ष्मण-परशुराम आदि के वार्तालाप बड़े रोचक हैं। यह हास्य यद्यपि भौंडी आकृति, फूहड़ प्रकृति और कुरुचिपूर्ण उक्तियों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, फिर भी यह उल्लास-अट्टहास का हेतु बनता है।

रामलीला में संगीत का बड़ा महत्त्व है। इसमें कथिकों द्वारा कथक नृत्य की विशेष व्यवस्था की जाती है। ये नर्तक प्रायः मुसलमान होते हैं। जातीय भावैक्य का यह एक अनुपम उदाहरण है। कहीं कहीं 'भाड़ों' और अन्य नर्तकों को भी प्रस्तुत कर दिया जाता है। गायन प्रायः कीर्तनियों द्वारा सम्पन्न होता है। इसमें 'मानस-पारायण' प्रायः होता रहता है। यों सारी रामलीला ही 'मानस' पर निर्भर है। 'मानस' वस्तुतः स्वयं एक नाटकीय महाकाव्य है। अस्तु, जैसा कि अनेक विद्वानों का मत है कि मध्ययुग में रामभक्ति के प्रचार प्रसार हेतु 'मानस' के सहारे रामलीला का प्रवर्तन किया गया था - यह तथ्य रामलीला को देखकर स्वतःसिद्ध हो जाता है।

रामलीला मंच कलात्मक मनोविनोद के साथ साथ धार्मिक-सामाजिक (मानवीय) सुसंस्कार उत्पन्न करने में अत्यंत प्रेरक एवं प्रभावोत्पादक है। अवध राम की मुख्य लीलाभूमि है, जिसका एक सीमांत है - अयोध्या और दूसरा है - चित्रकूट। यह लोकांचल रामचरित का स्वयं साक्षी रहा है। स्पष्ट है कि यहाँ की रामलीला भाषा एवं भाव, दोनों दृष्टियों से सर्वाधिक पुरातन एवं प्रामाणिक है।

भारत में रामलीला की अनेक शैलियाँ हैं। केरल में यह ४५ दिनों तक चलती है। सर्वाधिक कम अवधि (मात्र १ दिन) की रामलीला गुजरात और असम में होती है। इलाहाबाद की रामलीला एक सप्ताह (षष्ठी से विजयादशमी) तक चलती है। उसमें अभिनय

उच्चकोटि का होता है। रोशनी में सारा शहर जगमगर हो उठता है। यहाँ चौकियों का विशेष श्रृंगार किया जाता है। राम लक्ष्मण का भी नित्य नया श्रृंगार होता है। इसके मुख्य केन्द्र हैं - पजावा, रामजानकी मंदिर और पथरचट्टी। दारागंज, सिविल लाइन्स तथा कटरा की रामलीला भी बहुत प्रसिद्ध है। यहाँ ४ बजे से रात्रि ६ बजे तक रामलीला होती है और फिर रोशनी के साथ झांकियाँ निकलती हैं। दिल्ली की रामलीला लगभग ३०० वर्ष पुरानी है। सर्वप्रथम बहादुरशाह जफर ने इसे लालकिले के पिछवाड़े शुरू कराया था। फिर यह मोरीगेट में शुरू हुई। सम्प्रति रामलीला मैदान इसका मुख्य केन्द्र है। यहाँ लगभग ५०० मण्डलियाँ हैं। यह लीला कथक के सहारे संपन्न होती है। बम्बई की रामलीला आजाद मैदान तथा क्रास मैदान में होती है। सजावट की दृष्टि से यह सर्वोपरि है। मथुरा में रामलीला की लगभग ५० मण्डलियाँ हैं। यहाँ ब्रज की वेशभूषा का विशेष प्रचलन है। वृन्दावन की रामलीला में संगीत पर सर्वाधिक जोर रहता है। इनमें सबसे पुरानी है, काशी की रामलीला, जो सन् १७७६ से प्रचलित है। यह धार्मिक अनुष्ठान के रूप में संपन्न होती है। रामलीला विदेशों में भी बहुव्याप्त है, विशेषतः थाईलैण्ड, बर्मा, कम्बोडिया, लाओस, इण्डोनेशिया, मलेशिया और नेपाल में। धीरे धीरे इसका आधुनिकीकरण होता जा रहा है। डी.सी.एम. द्वारा आयोजित रामलीला में चक्राकार घूमते हुए मंच का प्रयोग किया गया है। संजीवनी लाते हुए हनुमान को क्रेन के सहारे उड़ते हुए दिखाया गया है। रासायनिक प्रयोगों द्वारा लक्ष्मण रेखा से आग की लपटें उठती दिखायी गयी हैं। इसमें ध्वनिप्रकाश के नवीनतम उपकरण प्रयुक्त हुए हैं। स्त्री कलाकारों को भी भूमिका में उतारा गया है। इसी प्रकार भारतीय कलाकेन्द्र द्वारा रामलीला को नृत्य नाटिका रूप में परिणत किया गया है। इसमें नेपथ्य संवाद के अनुसार पात्र हाव भाव पूर्वक मूक अभिनय करते हैं। इलेक्ट्रानिक मीडिया, विशेषतः रामानंदकृत रामायण धारावाहिक के प्रभाववश महानगरों में रामलीला का एक अद्यतन रूप नागर रूप में विकसित हो रहा है, किंतु वह लोकनाट्य की परिधि में ग्राह्य नहीं है।

वस्तुतः रामलीला उत्तर भारत का एक अत्यन्त समृद्ध तथा प्राचीन लोकनाट्य है। आवश्यकता है - इसके मूल प्रामाणिक रूप की संरक्षा और अभिवृद्धि की।

२. रासलीला

उत्तर भारत में रासलीला की परम्परा १५वीं शती से चल रही है। जनश्रुति है कि वल्लभाचार्य ने इसका मंगलारंभ किया था। स्वामी विठ्ठलनाथ ने ८४ कोस परिक्रमा वाली ब्रजभूमि के

स्थल खोज करके करहला मथुरा के स्वामी घमण्डदेव के साथ भागवतकथा के सहारे रासलीला की विशिष्ट रूपरचना की। यह कृष्णलीला का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष है।

राधा और कृष्ण का प्रेम प्रसंग समस्त पौराणिक कथाओं में, मुख्यतः भागवत महापुराण में वर्णित है। इसी से प्रेरित होकर देश के कोने-कोने में कृष्णलीलाएं शुरू हुईं हैं। रासलीला कृष्णलीला की अपेक्षा अधिक समुन्नत और शैलीबद्ध है। रासलीला द्वारा कृष्ण के जीवन की प्रमुख घटनाओं का प्रदर्शन किया जाता है। इसे समतल भूमि पर दर्शकों के बीच या ऊँचे चबूतरों पर खेला जाता है। आठ से चौदह वर्ष तक की अवस्था का एक सुन्दर कोमल किशोर कृष्ण बनता है। बचपन से ही वह बालक कृष्णलीला की कथाओं में पलता है। उसे धार्मिक वातावरण में रखा जाता है। रास आरम्भ होने के कई घंटे पूर्व बनाव श्रृंगार शुरू हो जाता है। नाटक को वास्तविक जानकर बालक श्रीकृष्ण का अभिनय बड़े हावभाव और तल्लीनता से करता है। वह कृष्ण की बाल लीला को लयात्मक ढंग से अभिनीत करता है।

रासलीला और कृष्णलीला मूलतः धार्मिक थी, किंतु जब यह मन्दिरों से निकलकर बाहर आयी तो इन्होंने झाँकियों का रूप ग्रहण कर लिया। फलतः इनमें लोकजीवन के विविध चित्र भर गए हैं। रासलीला यों तो विविध स्थानों पर देखी जा सकती है, किंतु प्रमुख रास स्थली वृन्दावन ही है। वहाँ टोपीकुंज में इसका बारहों मास आयोजन होता रहता है। श्रावण और फाल्गुन माह में 'रास' की अधिक धूम रहती है। हरियाली तीज से शरदपूनों तक यह अनेक मंदिरों, आश्रमों तथा उपवनों में देखी जा सकती है। रास लीला ब्रजभाषा में होती है, किंतु देशभर के अहिन्दीभाषी भक्त-दर्शक भी इसका आनंद लेते हैं। आज वृन्दावन में लगभग ५० रासमण्डलियाँ हैं और पाँच हजार से अधिक कलाकार इनसे संबद्ध हैं। प्रमुख मण्डलियाँ हैं - पण्डित हरिगोविंद शर्मा, रामस्वरूप, बडेणकर, फतेहकृष्ण, देवकीनंदन आदि। इनकी मण्डलियाँ वर्ष पर्यन्त देश-विदेश का भ्रमण करती रहती हैं। सबसे बड़ा लीला संस्थान 'बड़े ठाकुर' का है। रासलीला से अनेक कवि संबद्ध कर लिए गए हैं, जिनमें अष्टछापी कवि - सूरदास, चतुर्भुजदास, कुम्भनदास, गोविंददास, नंददास, कृष्णदास, परमानंददास, छीतस्वामी आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त स्वामी हरिदास, हितहरिवंशदास, जयदेव, नारायण भट्ट, भक्तमाली, मेघश्याम, हरिवंश, वृन्दावन आदि का भी इसके स्वरूप निर्धारण में विशिष्ट योगदान रहा है।

रासलीला में नृत्य नाट्य, संगीत तथा काव्य का सुन्दर सामंजस्य दिखायी देता है। इसमें १० या १२ किशोर कलाकार होते हैं, जो राधा-कृष्ण तथा गोपियों की लीलाएँ करते हैं। सभी का ब्रह्मचारी होना अनिवार्य है। इसमें राधा और कृष्ण के प्रति अगाध श्रद्धाभाव देखा जाता है। भक्तगण इस अवसर पर विभिन्न प्रकार के चढ़ावे और 'छप्पन भोग' अर्पित करते हैं।

रासलीला में बाँसुरी वादक के साथ ढोलक और सितार बजाने वाले कलाकार होते हैं, जिन्हें 'समाजी' कहा जाता है। सर्वत्र एक गायक मण्डली भी होती है। रास मण्डली का स्वामी मंच का नियंत्रण संभालता है। पं० हरिगोविंद शर्मा का संचालन तो अत्यंत सम्मोहक होता है। उनकी मण्डली १९४४ से सक्रिय है। उन्होंने गोविन्द बिहार में रास का प्रशिक्षण भी चला रखा है। वहाँ पचास हजार दर्शकों की व्यवस्था है। वे प्रतिवर्ष श्रावण वदी एकादशी से भाद्र सुदी एकादशी तक ४५ दिनों का आयोजन करते हैं। १९५३ में पण्डित जी ने बम्बई में निरन्तर ४ माह तक रासलीला का प्रदर्शन करके एक कीर्तिमान स्थापित किया है।

रासलीला के तीन प्रमुख रूप हैं -

(क) महारास

जिसका आयोजन शरदपूर्णिमा के अवसर पर होता है। इसमें कृष्ण के कई 'सरूप' बनाए जाते हैं।

(ख) अष्टयाम लीला

जो एक भावमयी लीला है और निरन्तर ८ दिनों तक चलती है, अर्थात् एक दिन में एक याम। इसमें 'ठाकुरजी' (श्रीकृष्ण) निकुंजलीला के साथ-साथ नंदबाबा और बलदाऊ के साथ अनेक प्रकार की लीलाएँ करते हैं। अष्टयाम में मंगला से शयन तक का वृत्तान्त रहता है। इसमें लगभग ५० पात्र होते हैं। यह बड़ी व्ययसाध्य है, क्योंकि एक दिन धारण किए गए परिधान इसमें दुबारा नहीं प्रयुक्त होते हैं।

(ग) चैतन्यलीला

जो विगत ४ दशकों से प्रचलित है। महाप्रभु चैतन्य को बंगाल में कृष्णावतार की तरह पूजा जाता है, अतः वे भी लोकनायक हो गए हैं। वस्तुतः रासलीला ब्रजमाधुरी से रससिक्त कर देने वाला लोकनाट्य है। भक्तिभावना और कला संचेतना - दोनों दृष्टियों से इसका महत्त्व अप्रतिम है।

३. नागनथैया लीला

यह कृष्णलीला का विशिष्ट अंग है। इसका प्रचलन काशी में सर्वाधिक है। जनश्रुति है कि गोस्वामी तुलसीदास ने इसका मंगलारंभ कराया था, इसीलिए काशी में तुलसीघाट पर प्रतिवर्ष

कार्तिक शुक्ल चतुर्थी को इसका समायोजन होता है। लगभग १५ मिनट की इस लीला के लिए हजारों दर्शक एकत्र होते हैं। आयोजन का समय होता है सन्ध्याकाल (सूर्यास्त के कुछ पूर्व)। पहले संकट मोचन से कदम्ब की शाखा लाकर गंगातट पर लगा दी जाती है और गंगाधारा में लकड़ी तथा पुआल से निर्मित नाग डुबो दिया जाता है। लीलास्थल को वृत्ताकार जलराशि परिधि से घेर दिया जाता है। यह लीला ब्रजविलास ग्रन्थ पर आधारित है, जिसे पखावज तथा मंजीरे के साथ रामायणी जन अपनी विशिष्ट शैली में गाते हैं। बीच-बीच में संवाद और अभिनय होते रहते हैं। श्रीकृष्ण अपने सखाओं के साथ गेंद खेलते आते हैं। सहसा गेंद कालियदह में गिर जाती है। कृष्ण कदम्ब पर चढ़कर नदी में कूद पड़ते हैं और कुछ ही क्षणों में नाग के फण पर सवार, गेंद लिए हुए बाँसुरी बजाते हुए प्रकट हो जाते हैं।

दर्शकगण 'जयकारा' करता है और भावविभोर होकर प्रस्थान करता है। जन साधारण इसकी अलौकिकता का कायल है।

कृष्णविषयक अन्य लीलाओं में प्रसिद्ध है -

१. चीरहरण लीला
२. दशावतार झोंकी
३. कंसवध आदि।

अभी इनके स्वतंत्र शिल्प निर्माणाधीन हैं। ये लीलाएं विभिन्न सम्भावनाओं से ओतप्रोत हैं।

४. नौटंकी

यह अवध का सर्वप्रिय लोकनाट्य है। इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में कई मत हैं। जैसे-

१. यह नाटक या नाटकी का अपभ्रंश है।



2. नौटंकी नामक कोई राजकुमारी थी, जिसकी प्रेमकथा पर आधारित नाट्य को नौटंकी नाम दे दिया।

3. जनश्रुति है कि इसकी फीस आरंभ में ६ टका (रूपया) थी, इसलिए यह नौटंकी कहलायी।

4. संगीत तथा रूपक तत्त्व के बाहुल्यवश इसे 'सांगीत' कहा गया।

5. भर्तृहरि की लोकप्रिय कथा के कारण कहीं कहीं भरथरी को नौटंकी का पर्याय मान लिया गया।

6. इटावा, आगरा, हाथरस आदि में इसे 'भगत' नाम दिया गया है।

तात्पर्य यह कि विषयवस्तु के अनुसार इस लोकनाट्य के नाम रखे जाते रहे हैं। कुछ क्षेत्रों में इसके लिए नकल, खयाल, स्वाँग, तमाशा, माच आदि शब्दों का भी व्यवहार किया जाता है। कवि बच्चू जाहिल ने 'स्वाँग' को इसका पर्याय माना है (जैसे सुल्ताना डाकू) जो नौटंकी से भिन्न नाट्य विधा नहीं हैं। नौटंकी गीति नाट्य, म्यूजिकल आपेरा, बैले आदि से मिलती-जुलती हुई कला है। इसका प्रवर्तन या प्रचलन फारसी थियेटर के पूर्व १२वीं शती के आसपास माना जाता है। सम्भव है कि अरबियन यायावरों के साथ यह कला भारत में प्रविष्ट हुई हो और यहाँ की तत्कालीन कलाओं के संसर्ग योग से इस रूप में परिणत हो गयी हो। नौटंकी में भारतीयता और अरब संस्कृति का अद्भुत समन्वय है। इसके कथानक, पात्र, शब्द, छंद और शिल्प सबमें यही परस्परता देखी जा सकती है। प्रदर्शन कला (शोमैनिशिप) इसकी सर्वोपरि विशेषता है। दर्शक कान को आँख बनाकर हजारों-हजारों की भीड़ में रात रातभर इसे देखते हैं।

हिन्दी का सांगीत साहित्य परिमाण में बहुल है। अवध के पुराने प्रकाशकों ने नौटंकी की शताधिक पुस्तकें प्रकाशित की थीं। इनमें सर्वोपरि थे - श्रीकृष्ण (खत्री) पहलवान (कानपुर) जिनके श्रीकृष्ण पुस्तकालय एवं श्रीकृष्ण संगीत कम्पनी अत्यंत लोकप्रचलित रहे हैं। कवि निदेशक श्रीकृष्ण लगभग ३०० सांगीत रूपकों के रचयिता कहे जाते हैं। इनमें लैलामजनू, अमरसिंह राठौड़, गुलबदन आदि कृतियाँ बहु प्रचलित रही हैं, जिनके रचयिता क्रमशः नत्थाराम - रामदीन लक्ष्मी नारायण और पन्नालाल माने जाते हैं। पुस्तकों के आवरण पृष्ठों पर कृतिकार का नामोल्लेख प्रायः नहीं किया जाता था। केवल कथाक्रम के बीच यथाप्रसंग रचयिता का संकेत दे दिया जाता था, जैसे-

"कहते पन्नालाल जूँबा पर सदा खुदा का नाम रहे।

रामदीन लक्ष्मीनारायण का यह सही कलाम रहे।।"

(गुलबदन)

"सिरीकृष्ण कथि कहे निराली रामदीन की कविताई पहन ले जब।" (सांगीत सियाहपोस)

ऐसा प्रतीत होता है कि पन्नालाल, रामदीन, लक्ष्मीनारायण आदि सहकारी लेखक थे। प्रकाशक श्रीकृष्ण नौटंकी की रचना प्रायः रामदीन द्वारा करवाते थे। श्रीकृष्ण में भी कारयित्री शक्ति थी। 'हीररांझा', 'श्रीमती मंजरी', 'दिल की खता' आदि उनकी स्वरचित कृतियाँ हैं। अन्य प्रकाशकों में लाला रामदयाल देवी प्रसाद बुकसेलर (लखनऊ), लाला श्यामलाल हीरालाल (काशी प्रेस, मथुरा), मास्टर निहालचन्द्र (अलीगढ़), मौजीराम (आगरा), उमादत्त बाजपेयी, सांगीत समिति (कानपुर) श्री वल्लभ शर्मा आदि प्रमुख हैं। इन कृतियों के कई-कई संस्करण हजारों की संख्या में निकले हैं। प्रकाशकीय सूचना के अनुसार 'हीररांझा' का द्वितीय संस्करण २००० (सन १९३८) और 'मुहब्बत की पुतली' का १६ वाँ संस्करण १०००० (१९५१) की संख्या में प्रकाशित हुआ था।

इन पुस्तकों के प्रायः जाली संस्करण भी निकलते रहते थे। अतएव रामदयाल देवी प्रसाद की पुस्तकों पर मुहर के साथ-साथ यह वाक्य भी पृष्ठांकित होता था - 'लगता पता मुहर से है नामों निशान का'। इन तथ्यों द्वारा नौटंकी साहित्य के लोकप्रचलित होने और स्वातंत्र्य पूर्व के अपेक्षाकृत अधिक निरक्षर लोक-जीवन में परिव्याप्त होने का प्रमाण मिलता है।

इस लोकनाट्य की कुछ और विशेषताएं उल्लेखनीय हैं। इनके शीर्षक प्रायः दुहरे (वैकल्पिक) रहे हैं, जैसे - 'सुल्ताना डाकू उर्फ हाय रे पैसा', 'सांगीत सियाहपोश उर्फ पाक मुहब्बत' 'गाफिल मुसाफिर उर्फ वफादार गुलाम', 'दिल की खता उर्फ बेटे की कुर्बानी', 'पति भक्ति उर्फ दगाबाज यार', 'सुदामा चरित्र-दुखार (यारों का हशर)', 'महारानी पद्मिनी अर्थात् चित्तौड़गढ़ संग्राम' आदि। इन नौटंकी लेखकों, प्रकाशकों और संचालकों का पूर्ण विवरण प्रायः न होने के कारण स्थिति पूर्ण स्पष्ट नहीं है, फिर भी कुछ प्रसिद्ध लेखकों और उनकी विख्यात कृतियों का विवरण अवश्य प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसे-

1. नत्थाराम ज्योतिषी (हाथरस) कृतियाँ-लैलामजनू, अमरसिंह राठौड़ आदि।
2. इन्दरमन 'इन्द्र' (बुलन्दशहर) धुरु चरित्र, मौरध्वज आदि।
3. पन्नालाल - गुलबदन, पतिभक्ति, मुहब्बत की पुतली, गाफिल मुसाफिर आदि।
4. श्रीकृष्ण खत्री (कानपुर) - दिल की खता, श्रीमती मंजरी, हीररांझा आदि।

५. रामदीन लक्ष्मीनारायण – सियाहपोस एवं अन्य।
 ६. बाबू बच्चूलाल वर्मा 'बच्चू जाहिल' (सीतापुर) – सुल्ताना डाकू, सुदामा चरित्र आदि।

इनके अतिरिक्त चिरंजीलाल, श्री वल्लभ शर्मा, उस्ताद राधेलाल, मौजीराम, तिरमोहन आदि के भी उल्लेख मिलते हैं। स्पष्ट है कि सांगीत संचालक और कलाकार प्रायः लेखक भी होते थे। ये कृतियाँ ४०-५० पृष्ठों की पुस्तिका रूप में दिखाई देती हैं। आज ये दुष्प्राप्य और अल्पख्यात हो गई हैं। प्रदेश के पुराने संगीत प्रेमी रईसों के पास ये जर्जरवास्था में अभी उपलब्ध हैं। इन कृतियों के अतिरिक्त वहाँ प्रचलित नौटंकी की एक मौखिक परम्परा भी विद्यमान है। सांगीतकार स्थूल रूप से किसी 'थीम' विशेष से सम्बद्ध होते हैं, पर संवाद रचना स्वतः कर लेते हैं या कई प्रक्षिप्त पाठों का सम्मिश्रण करके अपनी विभाषा में उसे रूपान्तरित कर देते हैं, जो पूर्ण सुनिर्धारित न होकर परिवर्त्यमान होता है और कृति के सहारे न चलकर श्रुति के सहारे चलता है।

विषयवस्तु और शिल्पप्रयोग की दृष्टि से इन नौटंकीयों में बड़ा वैविध्य दृष्टिगत होता है। इन कृतियों में प्रायः फारस की कथाओं, भारतीय ऐतिहासिक चरित्रों या वृतांतों, धार्मिक आख्यानों, मुस्लिम बादशाहों – शाहजादियों के रंग-रहस्य भरे अफसानों और लोककथाओं की भरमार है। इनमें ऐन्द्रजालिक चमत्कार से युक्त घटनाओं और कौतुकपूर्ण दृश्यों की अतिरंजना भी दिखाई

देती है। उदाहरणार्थ – रूह का आना और अन्तर्धान हो जाना (गाफिल मुसाफिर), आतिशी दरवाजा (दिल की खता), फरिस्तों द्वारा शहरयार का विष शमन, शापवश खैरु का स्त्री रूप (गुलबदन) आदि।

हास्य का परिपाक भी इस लोक नाट्य की विशेषता है। जैसे यह कथन –

“जैसे उदई बैसे भान, न इनके आँख न उनके कान।
 जैसे बाप वैसी दुखतर, एक छतीसी दुसरा बन्दर।।
 आओ, आओ, हमारे ऐ बुड्ढे सनम।” (गुलबदन)

इन हास्योक्तियों में फूहड़पन और अनगढ़ व्यंग्य अपेक्षाकृत अधिक मिलता है। नौटंकी का एक पात्र जोकर, मसखरा, मुंशी या 'मखौलिया' मुख्यतः 'कामिक्स' के लिए ही होता है। इन प्रसंगों में भौंडापन, अश्लीलता या फूहड़पन अत्यधिक मात्रा में पाया जाता है। जैसे ये पंक्तियाँ देखिए –

“रेशम की अंगिया, हैं उभरे जोबनवा।
 गले लिपटा के न छोड़ मोरे सँय्या।
 प्रीति बढ़ा के न छोड़ मोरे सँया।”

दूसरी ओर कवित्व से ओत-प्रोत सौन्दर्यबोध भी उल्लेखनीय है—

“खंजन मोहन नैन नासिका हरनी मन कीरन को।
 पाय पदम शशि भाल रूप है, अति विशाल वीरन को।



नौटंकी का एक दृश्य

तेरो श्याम शरीर कि वाको दिपै रंग हीरन को —
(गोपीचंद—भरथरी)

नौटंकी में आशिक माशूका की दर्देदिल भरी कथावस्तु के साथ-साथ कुछ वैचारिक सूत्र भी मिलते हैं। एक उक्ति द्रष्टव्य है —

“नभ पाताल भू चतुर्दश भुवन प्रकाशक राम।
जड़—चेतन पक्षी—पशु सबमें व्यापक राम।
अखिल अगोचर अमर अज अच्युत आनंदकंद।
शांतिरूप सुखभास दव सगुण सच्चिदानंद।।”
(ध्रुवचरित्र)

स्पष्ट है कि इनमें बड़ा विषयगत वैभिन्न्य है। सांगीतकारों ने कहीं तो विषयानुकूल ईशू की प्रार्थना की है, कहीं अल्लाह और कहीं परब्रह्म की—

“ओ माई फादर गाड, विलेजेज आर इन हेल
इण्डिया इजइन ट्रेबुल।” (सुल्ताना डाकू)

“या हक है पास इसमें कर मुझ पर फज्जोकरम तू।
कैसे होवै सिफत बयान, रखती ताकत नहीं जुबान।
आलीशान रब सुभान या रहमान या रहमान।”
(मुहब्बत की पुतली)

“गिरिजावर चन्द्रशेखर शंकर त्रिपुरारी।
अविनाशी कैलाशी सारंग सुखकारी।”
(पति—भक्ति)

“वंदे त्वां पद पंकजं सुललितम् श्रीमत्सुदामोदरम्।”
(मौरध्वज)

उपर्युक्त स्तुतियों में क्रमशः अंग्रेजी, उर्दू, हिंदी एवं संस्कृत के अतिरिक्त अनेक जनपदीय शब्द उपलब्ध हैं। कुछ विकृत प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं—

“सतडिगावै पर पती से धिक ऐसी नार कौ”
(सुल्ताना डाकू)

“क्यों प्रज्वलित करै मेरी क्रोधा अगिनि असपरस भी
किया गर मेरी सीस का।” (पति—भक्ति)

इनके अतिरिक्त मैं (मुँह) (सियाहपोस), उस्की, मती, कीया, जातू, ऐमक (लैला मजनू) मामता (दिल की खता) बिघन (गुलबदन), परिणाम, बेगी आईयो, जबत, सक्ता, हूजियों (पूरनमल), द्वितिय, अजुध्या, धुरु (गोपीचंद) आदि शब्द चिन्त्य हैं। दूसरी भाषाओं की शब्दावली का भी इनमें बेधड़क प्रयोग हुआ है, यथा —

पंजाबी—कौल, करदा, तुसी, मैंनू, गल्ल, सानू, लाजिम, बदाओ (हीररांझा), मामसी, हैजी, कुमर, मादी, अगारी, नेतर, कमि, जद, अबार, राब गेर, फील, कढैर (गोपीचंद) आदि। आंचलिक शब्द भी अनल्प हैं। अंग्रजीपद बहुशः प्रयुक्त हुए हैं जैसे— ‘माई डियर, हियर भर—भर पिएं बियर...’ (मुहब्बत की पुतली)। भाषा में मुहावरेदानी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त है। लोक सम्पर्क के कारण इस भाषा में तत्सम, मानक एवं परिनिष्ठ प्रयोगों का प्रायः अभाव रहा है।

नौटंकी के प्रिय छन्दों में गजल या ख्याल, बहर, शिकस्ता, मुस्तेजाद—रंगतबाग, हम्दसैर, तबील, कव्वाली, कड़ा, सोहमी, मसनबा, खमसा आदि फारसी छंदों तथा शार्दूल विक्रीडित, भुजंग प्रयात, लावनी, हरिगीतिका, दोहा—चौपाई, कवित्त, दादरा, तुमरी, कलिंगड़ा, वीरछंद आदि हिन्दी छंदों और आल्हा, कजली, थियेटरी, तर्जकानपुरी, डेढतुकी आदि लोक छंदों की भरमार है। वाह—वाह, अजी हाँ—हाँ, की टेक इन छन्दों को और प्रभावोत्पादक बना देती है।

नौटंकी की दो प्रमुख विशेषताएं हैं —

1. कथात्मक विवरण
2. फड़कते हुए संवाद।

साहित्यिक नाटक केवल रंग निर्देश देकर रह जाते हैं। उदाहरणार्थ संगीत ‘सियाहपोश उर्फ पाक मुहब्बत’ का एक अंश द्रष्टव्य है —

मंगलाचरण —

दोहा — सिपत खुदा के बाद में हो सबको मालूम।
सिक्त भगरवी एशिया मुल्क खुशनुमा रूम।
चौबोला— मुल्क खुशनुमा रूम तख्त वारिस महमूद तहाँ का।
बयां सिपत कर सकूँ न इतना रूतवा मेरी जुबां का।
था फरयाज हुसन यूसुफ इन्सानी शाहजहाँ का।
रवयत रहै अभन में कुल अजहद शैकीन कुरां का।
कड़ा — प्यारे जी रखे नवीं की याद खुदा हाफिज पहिचाने।
नेक बशर को शाह पिसर से ज्यादा: मानै।

शहजादी से छिपकर प्रेम करने वाला गबरू पकड़ा जाता है। वह पूछता है —

कैद किया क्यों अपने परदेशी को आय।
ऐ साहिब तुम कौन हो, दीजै जरा बताय।
लावनी — हौ कौन आप क्यों कर मुझको पकड़ा है।
यह नरम बदन किस लिए सख्त जकड़ा है।
महराज क्यों किया मुझको मुफ्त असीर।
क्या कसूर मेरा जो भरी है दस्त पाँव जंजीर।

जवाब बादशाह का (लावनी)

क्यों मरकर करै मक्कार न मुझको जाने।
इकबाल रौब मेरा कुल रइयत मानै॥

इसमें कहानी की जो तीव्र गति है, उससे नाटकीयता पूरे परिमाण में उभर आयी है। सवाल जवाब में मूड के हिसाब से तर्जें बदलती जाती हैं। कहीं पर संवाद बड़े चुटीले दिखाई देते हैं। जैसे सहेली और रहमान के इस कथोपकथन में —

सहेली—हो कोई ऐसा भी इन्सान। आवे नहीं बाग दरम्यान।
इसको चमन जनाना जान। कहना मान, मान, मान।

रहमान—ठाने मत यह मुझसे ठान। हैगा नाम मेरा रहमान।
हंटर मारूँ तुझको तान। होजा चुप, चुप, चुप।

सहेली—लूँ मैं बुला अभी रजपूत। मारे तान—तान के जूत।
तेरा उतर जाए सब भूत। वरना भाग, भाग, भाग।

रहमान—जबरन पकड़ तुझे मक्कार। मारूंगा कोड़ों की मार।
कहे मत कड़े सखुन बदकार। कहना मान, मान, मान।

सहेली—जो छू लेवे मेरा गात। क्या रखता है तू औकात।
उल्लू, बदतमीज, बदजात। यहां से भाग, भाग, भाग।

इन संवादों में एक विशिष्ट कोटि की जीवन्तता है। कृत्रिमता लेश मात्र नहीं है। दर्शक इस छेड़छाड़ पर मुग्ध हो जाते हैं। यह नौटंकी की लोकप्रियता का मूलाधार है।

नौटंकी का रंगशिल्प भी कम विलक्षण नहीं है। इसके पारिभाषिक शब्द स्वयं में नितांत भिन्न हैं, जैसे—आवाज (नेपथ्य की ध्वनि), दाखिला—(प्रवेश), अलाहिदा (अपवारित—कथन) (झामा) (वार्तिक—गद्य संवाद), दिल में (स्वगत), रंगा (सूत्रधार) आदि। इसके संवादों में काफी घरेलूपन दिखाई देता है, जैसे—

“रांझे के इश्क में लो मैंने कदम रखा
अब तो न पास मेरे शर्मो हिजाब मादर...।” (हीररांझा)

“उफ गुलबदन तेरी हरकत पर थू...।” (गुलबदन)

संवाद सम्बन्धी लेखकीय निर्देश भी बड़े सपाट हैं, जैसे—जबाब सुल्तान का डाकुओं से। सवाल डाकुओं का सुल्ताना से। दिगर जवाब सुल्ताना का—आदि।

नौटंकी का आदि अंत विशेष कौतुकपूर्ण होता है। आरम्भ में मंगलाचरण के साथ ही वस्तुनिर्देशात्मक प्रस्तावना दृष्टिगत होती है, यथा—

“सुनो रंगी बयान अब।
इश्क का इम्तहान अब।

है बंदा कलम उठाता” (मुहब्बत की पुतली)

“बदी अंजाम बुरा है।
तमाशा दिल की खता है।
है होती शुरु कहानी।” (दिल की खता)

“लो सुनाता हूँ अब्बल से कुछ माजरा
शाह चोचक की दुख्तर अजी हीरथी।
गोश देकर सुनो हीर की वाल्दा
जो करी अपने शौहर से तकरीर थी।” (हीररांझा)

इसी प्रकार नाट्यांत में भरतवाक्य के अनुरूप 'खुशी का गाना, गाया जाता है, जिसमें कथा का विसर्जन करते हुए सांगीतकार सविनय एवं क्षमापूर्वक विदा-याचना करता है —

“बस यहीं पै कवी की रुक गई कलम,
ज्योतिषी जी नथाराम सुरपुर गए” (लैला—मजनूँ)

“किस्सा यहाँ पे खत्म हो गया मित्रवर,
दास्तां भी ये पुरअसर हो गयी” (सुल्ताना डाकू)

“बच्चू जाहिल कहें रुक गई लेखनी,
माफ गलती को कीजै मेरे कुल बशर।”
(सुदामा चरित्र)

“ओइम शानति शानति।” आदि।

नौटंकी का लोक मंच उसके लोक—नाट्य की अपेक्षा कहीं और विलक्षण है। इसका अभिनय प्रायः व्यावसायिक कम्पनियों द्वारा किया जाता है, जिसमें श्रीकृष्ण सांगीत कम्पनी, कानपुर (संस्थापित १९२७), नत्थाराम की कम्पनी, लालमणि नम्बरदार की कम्पनी, मुन्नु नम्बरदार की कम्पनी, मौजीराम नौटंकी वाला (आगरा) की कम्पनी, उस्ताद राधेश्याम की कम्पनी आदि सुविख्यात हैं। इन कम्पनियों के पास लगभग १००—१५० कलाकारों, फोर्लिंग स्टेज, तम्बू आदि की व्यवस्था होती थी। अब इनका साजो सामान कम हो गया है। मंच कुछ पदों की सहायता से बन जाता है। सीन प्रायः दोहे कहकर बदल लिए जाते हैं। मंचन रात्रि में होता है और रात भर चलता है। मंच के एक किनारे वाद्यकार बैठते हैं, विशेषतः हारमोनियम मास्टर, नगाड़ची, ढोलक, सारंगीवादक आदि। इसमें पार्श्ववाचन की आवश्यकता नहीं होती। सर्वप्रथम 'रंगा' या 'रंगचर' जो संस्कृत नाट्य के रंगाचार्य का प्रतिरूप है, उपस्थित होता है। वह पात्र, परिवेश एवं प्रयोजन पर प्रकाश डालता है। और फिर सम्बद्ध पात्र क्रमशः अपनी—अपनी

भूमिकाएं प्रस्तुत करते हैं। ये संवाद प्रायः स्वरबद्ध और पद्यात्मक होते हैं। कथा में नाटकीयता और तीव्रता होती है। संवादों में कहीं कहीं वाद्य भी प्रयुक्त हो जाता है। दृश्यान्तर में कॉमिक, गीत या नृत्य का आयोजन किया जाता है। इसके दर्शक प्रायः निरक्षर और निम्न-कोटि के होते हैं। अभिनय के बीच में वे गायकी को दुहराने की फरमाइशें करते हैं, इनाम देते हैं और औपचारिक सहृदयता प्रकट करते हैं। अभिनेताओं को जोर से बोलने का अभ्यास होता है। अतः नौटंकी में ध्वनियंत्रों का प्रयोग नहीं किया जाता है। नगाड़े की बुलंद आवाज तो बड़ी ही सम्मोहक होती है। तिरमोहन का नगाड़ा तो आज भी दर्शकों को याद है। नौटंकी में प्रायः पुरुष पात्र होते हैं। कुछ कम्पनियों में गायिका, नर्तकी और अभिनेत्री रूप में तवायफे भी रहती हैं। इनका प्रसाधन बड़ा चटकीला-भड़कीला होता है। धार्मिक नौटंकियों के अतिरिक्त सभी नौटंकियां प्रायः अश्लील होती हैं, अतः भद्र समाज के लिए वर्जित मानी जाती हैं, किन्तु लोक-जीवन के सर्व साधारण व्यक्ति इसके मंचन और दर्शन में विशेष रुचि लेते हैं। अवध में आज भी तिरमोहन का नगाड़ा, रोशन का नक्कारा, मास्टर बच्चन की हरमोनियम, अख्तर जमाल की विदूषकी, आशिकी हुसैन, शिव प्रसाद, मलका बेगम और गुलाबवाई का अभिनय विख्यात है। कभी-कभी ग्रामवासी स्वयं इन्हें खेलने का उपक्रम करते हैं। निश्चय ही यह अवध क्षेत्र की एक जीवंत लोककला है। इसे सुरक्षित तथा संवर्द्धित रखना हमारा लोकधर्म है।

५. महरूल एवं नकटौरा

यह अवध की सर्व-सामान्य लोककला है जो मात्र स्त्रियों में ही प्रचलित है। महरूल का व्युत्पत्यर्थ और उसका मूल स्वरूप अविदित है। सम्भव है-यह महमूल शब्द का विकृत रूप हो, जिसका अर्थ है-कल्पित बात। नकटौरा में अवश्य नाटकत्व की ध्वनि है। यह लोकनाट्य पूर्णतः अलिखित है। इसका आयोजन विवाहोत्सव के अवसर पर किया जाता है। बेटे के व्याह में परिजन-पुरजन जब वर यात्रा में चले जाते हैं तो कुल की स्त्रियां मनोविनोद एवं काल-यापन के उद्देश्य से यह आयोजन करती हैं। इसका न कोई मंच होता है, और न नाट्य विधान। गाँव की कुछ प्रगल्भ स्त्रियाँ स्वतः अभिनेत्री बन जाती हैं और स्वयं कोई प्लेट बना लेती हैं। महरूल में या तो विवाह का रूपक रचा जाता है या फिर किसी सामाजिक समस्या से सम्बद्ध नाट्य किया जाता है। ये स्त्रियाँ रात को किसी गोपनीय स्थान (आंगन, अट्टालिका, वाटिका आदि) में एकत्र होती हैं। यहाँ पुरुषों का प्रवेश वर्जित होता है। प्रौढ़ाएँ इसमें विशेष सक्रिय रहती हैं। इनमें कोई वर

बन जाता है, कोई वधू और कोई पुरोहित। फिर कृत्रिम विवाह का नाट्य प्रस्तुत किया जाता है। कभी-कभी किसान, जमींदार, दरोगा, चौकीदार रूपी अभिनेत्री 'हण्टर' धारणकरके प्रसाधन - आहार्य आदि की यत्किचित् पूर्ति कर लेती है। इस नाट्य की भाषा शुद्ध जनपदीय है, पर पात्रानुसार उसमें वैविध्य भी दिखाई देता है। जैसे-दरोगा के संवादों में टूटी फूटी खड़ी बोली और अंग्रेजी का भी समावेश रहता है। इन लोक कलाकारों की तात्कालिक बुद्धि सराहनीय कही जाएगी। परदे में बन्द ग्रामीण स्त्रियां अपनी मण्डली में कितना साहसिक (बोल्ड) हो सकती हैं, यह नाट्य इसका उदाहरण है। इसमें अश्लीलता तथा फूहड़पन का पुट अवश्य रहता है, किन्तु नाटकीयता की कमी नहीं रहती। नारी मनोविज्ञान की दृष्टि से इसकी उपयोगिता निर्विवाद है।

६. स्वांग-सपेड़ा

यह अपनी कोटि का एक विशिष्ट लोकनाट्य है। प्रसिद्धि है कि यह 'इन्दरसभा' के अनुकरण द्वारा विकसित हुआ। कालान्तर में यह 'नागरसभा' के नाम से ख्यात हो गया। सपेड़े में नौटंकी के छन्दों का प्रयोग होता है, किन्तु धुनों में काफी अन्तर रहता है। इसका प्रदर्शन रात-रात भर होता है। सम्प्रति इस मौखिक नाट्य परम्परा के लिखित आलेख दुर्लभ हैं। इसे जीवनसिंह, गोविंद सिंह, नंदकिशोर, रौनक अली पीरबक्श, अशरफ अली आदि ने लिपिबद्ध किया। लखनऊ में इसके अन्तिम उस्ताद थे - शिवचरण लाल 'प्रेम'। प्रेमजी के पिता नंदकिशोर बेहटा (लखनऊ) के निवासी थे। इसके प्रथम प्रयोक्ता का विवरण प्राप्त नहीं है।

इस लोकनाट्य में काव्य, संगीत, नृत्य, नाट्य का प्रयोग होता है। इसकी प्रस्तुति मुक्ताकाश मंच पर होती है। इसकी कथा है - कामरु देश का नागर नामक सपेरा मन्तरगढ़ की जादूगरनी मोती की रूपचर्चा सुनकर उसे प्राप्त करने के लिए अपनी पत्नी सुन्दर को त्यागकर घर से निकल पड़ता है। अनेक प्रकार के कष्ट झेलता हुआ वह मन्तरगढ़ पहुँचता है और मोती से प्रेम प्रस्ताव करता है। वह शर्त रखती है जादू युद्ध करने का। मोती अपने नाग छोड़ती है, जिन्हें नागर वश में कर लेता है। किन्तु अकस्मात् एक नाग के डसने से उसकी मृत्यु हो जाती है और उसके शव को बालू में गाड़ दिया जाता है। नागर की मृत्यु का स्वप्नाभास सुन्दर को हो जाता है। वह मन्तरगढ़ पहुँचकर मोती से जादू युद्ध करके उसे मार डालती है और अपने पति को जीवित कर लेती है। नागर के आग्रह पर वह मोती को भी जिला देती है। फिर

तीनों कामरू लौट आते हैं और सुखमय जीवन जीते हैं। इसके आरम्भ में वंदना है, परमेश्वरी की -

“सिंह पर असवार गरजति आवै भवानी।
आगे-आगे सीता सुहागिनि पीछे लछिमन राम।
गरजति आवै भवानी।
एक हाथ में चौमुख दियना दूजै हाथ तिरसूल।
गरजति आवै भवानी।”

फिर चौबोला में सरस्वती, हींगलाज, अलोपी, काली आदि के मंगलाचरण हैं। पश्चात् 'छायानृत्य' होता है और जन समूह के बीच घुल-मिलकर अभिनय आरंभ होता है। नागर मोती के साथ आकर कथा की प्रस्तावना रखता है -

“देश कामरू जो सुना है जादू का धाम।
मैं बाशिन्दा वहीं का कि नागर मेरा नाम।”

कुछ संवाद गद्य में भी होते हैं। नागर-सुन्दर, नागर-मोती और सुन्दर-मोती के संवाद बड़े रोचक हैं। यत्र तत्र दर्शकों को भी संबोधित किया जाता है। बीच-बीच के विवरण ध्वनि रूप में रखे गये हैं, जैसे - “सुन्दर ने रुक्सत किया तब हवै के लाचार..।” अन्त में दादरा के साथ समापन किया जाता है, जैसे -

“चली मोती सुन्दर अब देश चली
दुख बीते खुशी की आई घरी।
ले चलै कामरू फुलवारी हरी।”

इस कथा में सूफी प्रेमाख्यानकों की जैसी कई कथानक रुढ़ियाँ प्राप्त होती हैं। लोकोत्तर चमत्कारों से युक्त यह लोकनाट्य जनजीवन में बहुत लोकप्रिय रहा है। इसमें श्रृंगार, वीर, अद्भुत और करुण का सुन्दर सम्मिश्रण है। अभिनय द्वारा इसे और रोमांचक बना दिया जाता है।

यह लोकनाट्य सम्प्रति स्वल्पप्रचलित है।

७. विदेशिया

यह भोजपुरी की एक विलक्षण नृत्य नाट्य शैली है। भोजपुर क्षेत्र के निम्न मध्य वर्ग के व्यक्ति प्रवास पीड़ा से प्रायः संतप्त रहे हैं। जीविकोपार्जन के लिए परदेश-प्रस्थान उनकी नियति रही है। प्रवास-पीड़ा से उद्भूत यह विरहकाव्य पूर्वांचल की एक निधि बन गयी है। अंग्रेजों द्वारा कोड़े मार मारकर

मारिशस, फीजी आदि देशों में बसाए गए गिरमिटिया मजदूरों की वियोग व्यथा इसमें मुखरित हुई है। धीरे धीरे इस शैली में अन्यान्य विषयों-प्रसंगों का समावेश हो गया। कुल मिलाकर यह सामूहिक त्रासदी की अभिव्यक्ति है।

विदेशिया मूलतः भिरवारी ठाकुर के काव्य-नाट्य-चिंतन की उपज है। इस लोकनाट्य का दृश्य-विधान बड़ा सरल अथवा आडम्बरविहीन होता है। वाद्यों के प्रयोग द्वारा दृश्य बदल जाते हैं और नृत्य के साथ कथानक आगे बढ़ता रहता है। इसमें प्रायः सोरठी, झूमर, कजरी, पुरबिया और आल्हा छन्दों का प्रयोग होता है। संवादों के माध्यम से भोजपुरी संस्कृति तथा लोक परम्पराओं का परिचय प्राप्त होता है।

इधर विदेशिया में कई नए प्रयोग किए गए हैं, जैसे-इसी शैली में रेणु के 'मैला आंचल' का नाट्य रूपान्तर बड़ी सफलता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इसमें निजंधरी कथाएं - सारंगा सदाबृज, नल-दमयन्ती आदि को भी उतारा गया है।

तात्पर्य यह है कि सम्प्रति 'विदेशिया' एक विशिष्ट लोकनाट्य शैली के रूप में प्रतिष्ठित है। इसे सुनियोजित करने की आवश्यकता है।



भिखारी ठाकुर

‘विदेसिया’ के सम्प्रति दो रूप दिखाई दे रहे हैं :-

१. सामाजिक कथानक
२. आध्यात्मिक कथानक।

सामाजिक कथावस्तु प्रवास विरह से संबन्धित है। अपना ‘गौना’ लाने के बाद नौजवान नायक जीविकोपार्जन की खोज में पूरबदेश (कलकत्ता और कामरूप-असम) चला जाता है। लोकजीवन की यह मान्यता है कि कामरूप की और ‘बंगाले’ की स्त्रियां मोहिनी होती हैं और वे यहां से जाने वाले पुरुषों को भेंडा या सुग्गा बनाकर रख लेती हैं। इसीलिए नवोद्गा नायिका अपने पति को ‘पूरब’ जाने से रोकती है -

“मोर पिया मत जा हो पुरबवा।

पूरब देश में टोना बेस बा, पानी बड़ा कमजोर।।”

विदेसिया नाटक का नायक अपनी पत्नी प्यारी की मान-मनुहार के बाद भी कलकत्ता चला जाता है और चटकल में मजदूर हो जाता है। वहां वह अनायास ही दुलारी के मोह में फँस जाता है और प्यारी को भूल जाता है। वह ६ माह का वचन देकर गया था, पर १२ वर्ष तक नहीं लौटता। प्यारी को उसका पता-ठिकाना ज्ञात नहीं है। वह विरहाग्नि में जलती रहती है -

**“अमवा मोजरी गइले लगले टिकोरवा,
दिन पर दिन पियरात हो विदेसिया।
एक दिन बहि जइहें जुलुमी बयरिया,
डार डार जइहै महराई हो विदेसिया।।”**

अकस्मात् उसकी भेंट एक बटोही से होती है, जो कलकत्ता जा रहा है। वह अपने परदेसी पति को संवाद भेजती है। बटोही को पति का नाम नहीं बताती, केवल पहचान बताती है -

**“हमरे बलमु जी की बड़ी बड़ी अंखियां
चोखे चोखे छउवे नैना कोर रे बटोहिया।
ओठवा जे हउवे जइसे कतरला पनवां
नकवा सुगनवा के ठौरे रे बटोहिया।।”**

बटोही कलकत्ता जाकर उसे ढूँढ निकालता है, उसे समझाता है और फिर प्रवासी पति गाँव आकर प्यारी को कलकत्ता ले जाता है।

इस कथानक में विरह काव्य, दूत काव्य - सन्देश काव्य आदि की अनेक कथानक रूढ़ियां अन्तर्निहित हैं। इन्हीं का

रूपान्तरण शास्त्रीय प्रबन्धकाव्यों में समय-समय पर हुआ है।

विदेसिया का आध्यात्मिक पक्ष अत्यंत गूढ़ (रहस्य गर्भित) है। विदेसी जीव का प्रतीक है, जो दुनियादारी में पड़कर जीवन का मूलोद्देश्य (ईश्वर प्राप्ति) से विमुख हो जाता है। दुलारी माया है, जो जीव को मोह के वशीभूत कर लेती है। बटोही संत प्रकृति है, जो पथभ्रष्ट जीव को सन्मार्ग की प्रेरणा देती है। प्यारी साक्षात् परमात्मा है - ईश्वर की प्रतीक। यह रूपक सूफीकाव्य-दर्शन के बहुत निकट है। अन्तर प्यारी और दुलारी के प्रतीकार्थ में है।

विदेसिया का मुख्य स्वर करुणा का है, किंतु है यह सुखान्त नाटक। इसकी कथा परदेश-प्रवास की पीड़ा से संबन्धित है। इसमें पूर्वांचल की माटी की महक मिलती है। इस नाटक के पात्र दैनिक जीवन के व्यक्ति होते हैं। प्रत्येक पात्र बहुआयामी! अपनी-अपनी भूमिकाओं के बाद वे ही ढोलक-खंजड़ी आदि वाद्य सम्हाल लेते हैं, अर्थात् मंच का हर कार्य करते देखे जाते हैं। इनमें सूत्रधार का कार्य बहुत जटिल होता है। भिखारी ठाकुर इस कार्य में पारंगत रहे हैं। पात्रों का नामकरण चरित्र के अनुरूप किया जाता है। प्यारी, दुलारी नामों में गुण कर्म का भेद है। बटोहिया, विदेसिया भी कर्म पर आधारित नाम हैं। ये नाम वर्गीय स्थिति के भी द्योतक होते हैं। विदेसिया में नारी पात्रों की भूमिकाएं प्रायः पुरुष करते हैं। इधर सतीश आनंद ने ‘अमली’ में स्त्री पात्र उतारे हैं, यों भिखारी ठाकुर की मण्डली ने स्त्री कलाकारों को प्रवेश नहीं दिया।

विदेसिया के संवाद पद्यात्मक (बतर्ज नौटंकी) होते हैं। आरंभ में मंगलाचरण, बीच बीच में गायन। ये कथासूत्रों को जोड़ने का काम करते हैं। अभिनेता तथा दर्शकों के मध्य यहां सीधा संवाद होता है। दर्शकगण स्वतः हामी भरते या प्रतिक्रिया व्यक्त करते रहते हैं।

इस लोकनाट्य का रंगमंच बड़ा निराडम्बर होता है। २०, २५ हजार की भीड़ घण्टों-घण्टों तक मुग्धभाव से नाटक देखती रहती है। इधर विदेसिया की लोकप्रियता घटी है। वह फरमाइशी ‘नाच’ बन गया है। संजय सतीश जैसे रंगकर्मी इसे पुनर्गठित कर रहे हैं। इस पर फिल्म भी बनी है। विदेशों में इसका मंचन सराहा गया है, किंतु आधुनिकीकरण के कारण पूर्वांचल का ‘विदेसिया’ क्षत-विक्षत हुआ जा रहा है। भिखारी की मृत्यु के बाद इसका कोई प्रबल प्रयोक्ता नहीं रहा। आवश्यकता है - लोकनाट्य संस्थान के माध्यम से इसकी संरक्षा की, गुणात्मक वृद्धि की और मूल रूप की पुनः प्रतिष्ठा की।

८. बहुरूपिया

यह अवध का एक लोकप्रिय प्रहसन है। इस लोकनाट्य में छद्मवेशधारी कलाकार अपने करतब दिखाते हैं और आशु सम्भाषणों, उनमें निहित व्यंग्योक्तियों तथा हाजिरजवाबी द्वारा दर्शकों को रिझाते हैं। अभिनय की बारीकी अश्लीलता के बावजूद इसमें देखने योग्य होती है। यह प्रायः एकल होता है। कथोपकथन दर्शक वृन्द से किए जाते हैं। इसके मंचन के लिए आहार्य के अतिरिक्त किसी प्रेक्षागार की आवश्यकता नहीं होती। पिछले दशकों में यह लोकनाट्य इतना अप्रचलित हो गया कि अब इसकी अस्तित्व रक्षा की समस्या दुस्साध्य सी हो गयी है।

६. चांचर

यह एक सामूहिक नृत्य नाट्य है, जो प्रायः लोकोत्सव रूप में स्त्रियों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इसमें कई प्रकार के कोरस गान होते हैं, जो ऊँची आवाज में प्रस्तुत किए जाते हैं, इसलिए चांचर में कर्कशता अधिक भर गयी है। कभी कभी फूहड़पन कुछ अधिक ही प्रगल्भ हो उठता है। इसके अभिनय के लिए किसी मंच की आवश्यकता नहीं रहती। वेश विन्यास सर्वथा साधारण रहता है। घर आँगन या रईसों के दरवाजे इसे वृन्दगान तथा समूह नृत्य के साथ प्रस्तुत किया जाता है। इसमें

भद्र समाज पर कटाक्ष के साथ साथ श्रृंगारिक चेष्टाओं का प्रदर्शन किया जाता है। एक वर्ग विशेष के लोकमनोविज्ञान के विश्लेषण हेतु इस लोकनाट्य की बड़ी उपयोगिता है। सम्प्रति आवश्यकता इसके आद्य रूप को सँजोने की है।

१०. भँडैती या भँडाय

यह एक प्रकार का लोक प्रहसन है, जो व्यावसायिक आधार पर भौंड जाति के लोक कलाकारों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। भौंडों के समूह में प्रायः १०-१५ कलाकार होते हैं, जो किसी परिवार विशेष के भी हो सकते हैं और पृथक्-पृथक् परिवारों के भी। इनके कुछ विशिष्ट प्रदर्शन होते हैं, जो अलिखित होकर भी अभ्यासकृत होते हैं। इन खेलों को प्रायः समसामयिकता से जोड़ लिया जाता है। भँडाय आद्योपांत हास्य-व्यंग्यपरक होता है और कुछ कुरुचिपूर्ण भी। प्रायः भौंडों का युग्म परस्पर संलाप करता हुआ उपस्थित श्रोताओं/दर्शकों पर वाक् प्रहार करता है, जो प्रायः अशिष्ट और आक्षेपक होता है। भँडाय का कोई पृथक् मंच नहीं होता है। यह महफिल के बीच में ही प्रस्तुत किया जाता है। ये कलाकार प्रायः भड़कीली पोशाकें धारण किए रहते हैं। गद्य पद्यात्मक संवादों के बीच कुछ गायन भी प्रस्तुत किए जाते हैं, जिनमें लोकवाद्यों की संगत की जाती है। वस्तुतः ये भौंड लोक विदूषक कहे जा सकते हैं।



'विदेसिया' शैली में "मेला आंचल"

११. जातीय नाट्य-नृत्य

जनजीवन में लोध, अहीर, काछी, कोरी, धोबी, पासी, चमार, डोम, दुसाध आदि ऐसी अनेक जातियाँ हैं, जो अपने पारिवारिक विवाहोत्सव के उपलक्ष्य में इन संगीतपूर्ण वाद्य नृत्यों का आयोजन करते हैं। जातीय आधार पर इन लोकनायकों में न्यूनाधिक अंतर भी प्राप्य हैं, पर इनका लोकमंच प्रायः समनुरूप है। इन आयोजनों में दो-तीन कलाकारों की आवश्यकता होती है। एक कलाकार स्त्री वेश धारण करता है। दूसरा पुरुष वेश। दोनों की कटि में बड़े-बड़े घुँघरू वाला पट्टा बँधा रहता है। पैरों में भी घुँघरू बाँधे जाते हैं। स्त्री वेश हेतु चूड़ीदार पायजामा, लँहगा, साड़ी, चुन्नी, अलंकार, केश आदि धारण किए जाते हैं, जो अधिकांशतः कामोत्तेजक होते हैं। इन नाट्यों में गद्य-पद्य, दोनों प्रकार के संवाद होते हैं और गायन-वादन भी। लोकवाद्यों में सारंगी, चिकारा, डफली (डफ), हुडुक, झाँझ, नगाड़ा, आदि यथाप्रसंग बहुशः प्रयुक्त होते हैं। उपर्युक्त लोकनृत्य गीत अपेक्षाकृत अधिक नाटकीय दिखाई देते हैं। ये नाट्य-प्रदर्शन प्रायः सायंकाल या रात्रि में सम्पन्न होते हैं। प्रकाश व्यवस्था हेतु एक बोतल में मिट्टी के तेल की लौ बनाई जाती है, जो प्रकाश वाहक द्वारा सदैव नर्तक-नर्तकी के पास (अभिमुख) ही रखी जाती है। दोनों अभिनेता प्रायः पति पत्नी की भूमिका करते हैं। वे फूहड़ प्रश्नोत्तर करते हैं और परस्पर कलह करते हुए निम्नस्तरीय दर्शकों/श्रोताओं का सतही मनोरंजन करते हैं। स्त्री रूपी कलाकार के हाथ में चमड़े का एक पट्टा होता है, जिससे वह पुरुष की ताड़ना करती है। ये आयोजन गाँव के आश्रयदाता-जमींदारों, रईसों और अधिकारियों के दरवाजे कराये जाते हैं। पारिश्रमिक पुरस्कार रूप में इन्हें अन्न, धन, चल-अचल सम्पत्ति (खेत, बाग, वृक्ष आदि 'चिन्ह' (चीन्ह) जैसे बरतन दिये जाते हैं। उक्त कलाकारों की व्यवस्था उत्सव का संयोजन (जाति-कुल-प्रमुख) करता है और उन्हें यथोचित शुल्क भी देता है। अन्य जातियों के नृत्य लोकमंचीय नहीं होते, अतः वे लोककला के अन्तर्गत ग्राह्य हैं।

समाहार

ये लोकनाट्य और लोकमंच जनपदीय संस्कृति की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। ये विधाएँ कला-वैविध्य की प्रमाण हैं और दैनन्दिन जनजीवन की साक्षी भी। इनमें कहीं लौकिक कुप्रथाओं का स्वर है, कहीं शोषण, अत्याचार और भेद-प्रभेद का भाव है और कहीं सुख-समृद्धि-सम्पन्नता का पूर्वाभास भी, जैसे-

“दो कंचन के कलश सुघड़ घर नरियल लीने।
दस हाथी सौ ऊँट पाँच सौ घोड़ा दीने।
.....मोहर हजारी तोड़ा लै अगवानी कीनी.....।
.....कंचन झारी हाथ लै ठाढ़ी भई अगार.....।”
(गोपीचन्द्र)

यहाँ आर्थिक समृद्धि और सामाजिक प्रथाओं के सूक्ष्म संकेत प्राप्य हैं। रामलीला में प्रागैतिहासिक पौराणिक वृत्तान्तों के सूत्र हैं और अन्य नाट्यों में विभिन्न प्रकार के समाज मनोविज्ञान, नृत्यशास्त्र, धर्म, अध्यात्म, कला आदि से सम्बन्धित तथ्य हैं। यह साहित्य वस्तुतः जीवित लोकवाग्मय है। इसमें उक्त लोक की समस्त आकांक्षाएँ, आस्थाएँ अर्थात् उनका जीवन सर्वस्व मुखरित होता रहा है। ये कलाएँ परिनिष्ठ साहित्य की मूल हैं। इनमें एकदेशीयता के तत्त्व हैं और सार्वभौमिकता के भी। इसे लिपिबद्ध, चित्रांकित और सुव्यवस्थित करना अत्यावश्यक है। तभी लोकजीवन की इस वाग्विभूति का सम्यक् संस्कार संभव होगा।

इक्कीसवीं शती के प्रवेश द्वार पर स्थित भारतीय समाज एक ओर आधुनिकीकरण के लिए भावाकुल है और दूसरी ओर अपनी पारम्परिक सांस्कृतिक विरासत के लिए भी।

वस्तुतः प्रदेश की इन लोक कलाओं की संरक्षा हमारी प्राथमिकता होनी चाहिए। इसके लिए आवश्यक है -

1. व्यापक क्षेत्र सर्वेक्षण करवाकर इन कला अवशेषों के आडियो वीडियो कैसेट्स बनवाए जाएं।
2. इन विधाओं से संबन्धित प्रकाशित किंतु दुर्लभ साहित्य संकलित कर लिया जाए।
3. पुराने लोकनाट्यकर्मियों की भेंटवार्ताएँ, चित्र, संस्मरणादि एकत्र किए जाएं।
4. इन कलाओं के प्रशिक्षण केन्द्र खोले जाएं।
5. अधिकाधिक वित्तीय अनुदान देकर गाँव-गाँव की रामलीला-रास-विदेसिया आदि के मंचन को प्रोत्साहित किए जाए। इस दृष्टि से लोककलाकारों के लिए वृत्ति, पुरस्कारादि की व्यवस्था की जाए।
6. इस लोक साहित्य का अध्ययन-अन्वेषण उच्च शिक्षा संस्थाओं के लिए अनिवार्य किया जाए।

उत्तर प्रदेश की ये लोक नाट्य विधाएँ हम सबके लिए हर्ष एवं गर्व का विषय हैं। इन्हें सुरक्षित तथा संवर्द्धित रखना अपनी सांस्कृतिक अस्मिता के लिए अत्यावश्यक होगा।



रामलीला में पारम्परिक मुखौटे



ब्रज की रासलीला

उ० प्र० सांस्कृतिक कार्य विभाग की अध्ययन वृत्ति योजना 93-94 के अन्तर्गत प्रकाशित एवं
पुनार आफसेट, लखनऊ (फोन : 223757) में मुद्रित।